जनवरी 1989

झारखण्ड दर्शन

संथाल विद्रोह का दस्तावेज □ गाँव के नाम में झारखण्ड के झलक □ बड़े बाँधों के बदले □ कहानी कुलोदा मदताइन की □ मजदूरों के नये संगठन और नये मुद्दे □ तीन किताबें — जमीन; जंगल: आन्दोलन □ युकलिप्टस से खतरा □ झारखण्ड आन्दोलन के लिए नये ढांचे

सम्पादक
दिलीप कुमार

व्यवस्था
जेवियर डायस

आवरण
प्रदीप

सम्पर्क पता
सम्पादक, झारखण्ड दर्शन
C/o पो० बॉक्स 57
चाईबासा-833201
(बिहार)

प्रकाशक
समग्र प्रकाशन की ओर से सीताराम
शास्त्री C/o बहादुर उरांव,
राखा, असन्तलिया,
चक्रधरपुर-833102
(बिहार)

इस अंक में

पृष्ठ

1 सम्पादकीय
3 पाठकों के विचार
5 कविताएँ
7 दस्तावेज : संथाल विद्रोह
18 झारखण्डी गाँवों के नामों में छुपी हुई है झारखण्ड की अनमोल प्रकृति और संस्कृति
☐ श्रीमती वीणापाणी महतो
28 झारखण्ड आन्दोलन और महिलाओं की भूमिका
☐ रोज केरकट्टा
30 झारखण्डी महिला कितनी आजाद ?
☐ एन मार्टाम
32 छोटानागपुर—संथालपरगना में बड़े बाँधों का विकल्प—ii
☐ वीर भारत तलवार
41 कुलोदा मइताइन (लम्बी कहानी)
☐ मनमोहन पाठक
52 युकलिप्टस से खतरा
☐ सुन्दरलाल बहुगुणा
54 वन (साभार)
55 मजदूर संघर्ष के नये मुद्दे और संगठन के नये रूप और उनकी समस्यायें
☐ श्रीहर्ष कान्हारे
60 भौंरा कोलियरी के गोवर्धन मांझी और फागु भूईयां
☐ रंजन घोष
63 झारखण्ड प्राप्ति के संभावित उपाय
☐ पौलुस कुल्लू
67 पुस्तक समीक्षा
72 मुण्डा लोकगीत

सम्पादकीय

लघु पत्रिकाओं की दुर्दशा और झारखण्ड के पूर्वानुभवों को ध्यान में रखते हुए शायद हमारे पाठकों ने सोचा हो कि अब झारखण्ड दर्शन के तीसरे अंक के दर्शन की कोई उम्मीद नहीं है। और तो और, खुद हम भी इस संदेह के शिकार रहे। फिर भी निकला। कोशिश रही कि अंक पिछले अंक से बेहतर नहीं तो कम से कम बदतर तो न रहे। प्रयास का फल कैसा रहा इसका निर्णय तो आप को करना है।

जब हमने पत्रिका शुरू की थी तभी मित्रों ने संदेह प्रकट किया था कि क्या हम इसे चला पायेंगे—क्योंकि हमारे साधन अति सीमित थे—भौतिक और मानवीय, दोनों। तब हमने आशा के आदर्श वाक्यों का उच्चारण किया था कि अभी झारखण्ड के और बुद्धिजीवी आयेंगे और इस प्रयास से जुड़ते जायेंगे। इसी आशा और अकांक्षा से हम काम में जुट गये। लोगों ने अंक पसन्द किये, आदिम छपाई के बावजूद खरीदें, बल्कि मात्र इन दो अंकों के लघु प्रयास ने कुछ बड़ी झारखण्डविरोधी शक्तियों को इतना उकसाया कि उन्होंने अपने प्रकाशनों से हमारे प्रयासों पर प्रहार करना जरूरी समझा। लेकिन अभी तक हमारी आशा के आदर्श वाक्य वास्तविकता में बदल नहीं पाये। भौतिक और मानव संसाधनों की राह देखता हमारा पोस्ट बाक्स खाली पड़ा है।
लेकिन ऐसा क्यों ?

झारखण्ड तो एक स्वंदमान और गतिशील क्षेत्र है, और झारखण्ड आंदोलन जीवंत। झारखण्ड की अस्मिता को मिटाकर झारखण्डियों को आत्मसात कर लेने के प्रबल राष्ट्रीयताओं के प्रयासों के सामने झारखण्डी जनता ने सिर तो नहीं झुकाया ! अपनी भाषा नहीं छोड़ी, संस्कृति नहीं छोड़ी। जब बोलो, जहाँ बोलो, हजारों—कभी तो लाखों की संख्या में पहुंच जाते हैं। कितने गोलीकांडों ने उनके सीने छलनी किये। ऐसी प्रतिबद्ध जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले बुद्धिजीवी भी तो होंगे ! वे कहाँ हैं ?

शिक्षित झारखण्डियों की खासी संख्या है। वे आंदोलन की बौद्धिक जिम्मेवारियाँ निभाने आगे क्यों नहीं आते ? क्या उन्हें नौकरियाँ देकर शासकों ने उनको जनता से अलग कर लिया ? ऐसा तो नहीं हो सकता। पग-पग पर अपमान और आहत राष्ट्रीय भावनाएँ तो हर जगह उनका पीछा करती होंगी। फिर भी वे उदासीन क्यों ? उनकी आहत राष्ट्रीय भावनाओं से कोई "रेचेड़

आफ दि अर्थ" ("Wretched of the earth"—फ्रांज फैनन द्वारा रचित पुस्तक, जो अफ्रीका के साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय आक्रोश, पीड़ा और आहत भावनाओं को प्रतिबिंबित करती है।) क्यों नहीं फूट पड़ता ?

गीत-संगीतमय झारखण्डी जीवन के गीतों के कितने संकलन प्रकाशित होते हैं ? झारखण्डी भाषाओं में कितनी पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं ? क्यों नहीं कोई झारखण्ड और झारखण्ड आंदोलन के ऐतिहासिक घटना-चक्रों को विस्तार से लिखता ? क्या सरना धर्म गैरझारखण्डी बुद्धिजीवियों के 'एनिमिज्म' (animism) शब्द से ही सूचित होता रहेगा या कभी कोई समानता, सामूहिकता और प्रकृतिप्रेम का प्रतिनिधित्व करने वाले इस प्रकृतिवादी धर्म के सारगर्भित सार-तत्व की विशद व्याख्या प्रस्तुत करके आदिवासी के गौरवमय और बहुवांछित सामूहिकता की संस्कृति के मूल आधार के दर्शन को सुसंहत रूप में प्रस्तुत करेगा ? क्यों नहीं कोई आष्ट्रिक भाषाओं के सम्बन्धों, इतिहास आदि पर शोध करता ? क्यों नहीं कोई इस विषय को प्रतिष्ठित करने के प्रयास में जुटता कि मुंडारी कुड़ुख और सदानी भाषाओं को भी संविधान की 14वीं अनुसूची में शामिल होने का उतना ही हक है जितना अन्य किसी भाषा को ? क्यों नहीं किसी बुद्धिजीवी ने छौ नाच पर श्रीमती वीणापाणी महतो के लेख से प्रेरित होकर अन्य किसी झारखण्डी नृत्य पर हमें एक लेख भेजा ? झारखण्ड आंदोलन को विचारधारा को कौन प्रस्तुत करेगा ? राष्ट्रीयताओं के प्रश्न को अंधराष्ट्रवादी घेरे से बाहर निकालकर सही समाजवादी दृष्टिकोण कौन प्रस्तुत करेगा ? झारखण्ड के लाखों असंगठित मजदूरों की हालत का अध्ययन कौन करेगा ? पूँजीवादी व्यवस्था एवं विचारधारा के प्रवेश से झारखण्ड की समानता एवं सामूहिकतावादी समाज व्यवस्था का विघटन कैसे हो रहा है और इसे कैसे रोका जा सकता है—इसका अध्ययन कौन प्रस्तुत करेगा ? पुंजीवादी व्यवस्था ने झारखण्ड के पर्यावरण को कितना चौपट किया इसका मूल्यांकन कौन करेगा और पर्यावरण के पुनरुज्जीवन की परिकल्पना कौन बनायेगा ? कौन विस्तार से बतायेगा कि झारखण्डियों के लिए कैसे अर्थनैतिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक विकल्पों की जरूरत है ?

झारखण्ड आंदोलन को ऐसी सैकड़ों अपेक्षायें हैं बुद्धिजीवियों से। झारखण्ड आंदोलन को पर्याप्त शक्तिशाली बनना है तो उसकेबौद्धिक धरातल को काफी मजबूत होना पड़ेगा। □

पाठकों के विचार

पत्रिका बुद्धिजीवियों को एकत्रित कर सकती है

रांची गया था तो बुक-स्टॉल पर 'झारखंड दर्शन' के दर्शन हुए। दूसरा अंक पहले खरीदा फिर खोज कर पहला अंक भी पढ़ा। दोनों अंक बेहद अच्छे लगे। इस तरह के प्रयास की आवश्यकता बहुत पहले से थी। क्योंकि पत्रिका ही ऐसा माध्यम है जो झारखण्ड के बुद्धिजीवियों को एकत्रित कर सकती है। अब तक की यही हमारी सबसे बड़ी कमजोरी रही है।

महादेव टोप्पो, गया

शिक्षा की विशेष क्रिया ही आखिरकार जनता को संगठित करती है

झारखंड दर्शन के दूसरे अंक में छपे गये विभिन्न लेखों को पढ़ने के बाद मुझे लगता है कि इन लेखों में कई बहुमूल्य अनुभव और झारखण्ड आन्दोलन के चरणों से उभरे हुए विभिन्न मुद्दों पर विभिन्न दृष्टिकोणों और परिप्रेक्ष्यों को दस्तावेजी रूप दिया जा रहा है।

'कुर्मी नहीं, कुड़मी आदिवासी हैं' लेख में डा० महतो ने दावा किया है कि सन् 1931 में कुड़मियों का अनुसूचित जन-जाति की सूची से हटा दिया गया इसलिए कि कोयला खदान के लिए जमीन हड़पना जरूरी था जिसमें आदिवासियों के लिए बनाया गया सी०एन०टी० एक्ट बाधक था। लेखक के कहने के अनुसार, कुड़मी सम्प्रदाय, जो आदिवासी ही थे, उनकी पहचान का पुनरुत्थान इस आर्थिक वंचना से जुड़ा हुआ है। डा० महतो का यह विचार तर्कसंगत है किन्तु मैं इस विचार को ध्यान में रखते हुए कुछ आगे बढ़कर कई सवाल पूछना चाहता हूँ। क्या कुड़मी सम्प्रदाय इस भावना को महसूस करता है कि दूसरे आदिवासी सम्प्रदाय इस आर्थिक वंचना के शिकार नहीं हैं? क्या वे 'आरक्षण कोटा' का फायदा उठाने में सक्षम रहे हैं? अगर ऐसा है, तो इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता है कि तमाम झारखण्डियों के अनुभव से कुड़मी सम्प्रदाय अपने को अलग करके ही सोच रहा है जिसका अन्य अर्थ यह भी है कि सत्ता की 'आत्मसात करने की प्रक्रिया' निपुणता से यहाँ काम कर रही है। इस स्थिति में कुड़मी सम्प्रदाय के अन्दर से ही कुछ ऐसे तत्व उभरेंगे जो सामाजिक तथा आर्थिक प्रतिष्ठा के लिए ठेकेदार, व्यापारी, विधायक बनेंगे और पहले के झारखण्ड आन्दोलन के बिखराव के कारणों को दोहरायेंगे।

ए० के० राय ने अपने लेख 'झारखण्ड आन्दोलन और सम्प्रदायवाद' में उल्लेख किया है—"समाजवादी दिशा तथा मार्क्सवादी दर्शन नहीं रहने से ही सम्प्रदायवाद तथा जातिवाद पनपेगी·····।" एक दार्शनिक दृष्टि से मैं यह दावा स्वीकार करता हूं; परन्तु मुझे यह सवाल का जवाब देना होगा कि जमशेदपुर में, जहाँ पिछले 40 साल से मजदूरों के बीच में कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रभाव रहा है, वहाँ क्यों साम्प्रदायिक दंगा हुआ? निश्चय ही हमें अतीत के बारे में और भी गहराई से सोचना चाहिए।

अक्सर, राष्ट्रीय आन्दोलन में यह देखा जाता है कि परंपरागत लोक संस्कृति के रूप में नयी अन्तर्वस्तु के साथ भिन्न विश्व-दृष्टि की रचना की जाती है। प्रो० वीणापाणी महतो के लेख 'छौ नाचः झारखंड की अनूठी लोक कला' पढ़ कर झारखंडियों के लिए इस नृत्यकला की शक्तिशाली आकर्षण तथा इस लोक कला के जुझारूपन और दृढ़ता को मैं ने स्पष्ट अनुभव किया। क्या छौ नृत्यरूप को नये विचारों को फैलाने का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है? खेद की बात है लेख में इस पहलू को छुआ नहीं गया।

झारखण्ड आंदोलन की संदर्भ में एक तरफ देवनाथन् दावे के साथ कहते हैं कि झारखण्ड राज्य के लिए संघर्ष करने भर से वर्ग शोषण खत्म नहीं हो जायेगा और झारखण्ड राज्य की मांग पुंजीवादी जनतंत्र की सीमाओं के अन्दर है। दूसरी तरफ ए० के० राय झारखण्ड आन्दोलन को 'मुक्ति के लिए संघर्ष' की हैसियत से देखते हैं। यहाँ बहुत अनुच्चारित सवाल उठते हैं। 'सही' दिशा में आने का तरीका निकालना ही है; परंतु

यह हम कैसे कर सकते हैं ? अगर हम देवनाथन् की इस व्याख्या को मानते हैं कि आदिवासी बहुल झारखण्ड में राज्य सत्ता का उद्भव नहीं हुआ था बल्कि प्रबल वंशों की परम्परा रही थी, (और) इस लिए सामुदायिक संपत्ति की एक परंपरा रही है; किन्तु सवाल है—कैसे इस परंपरा को शोषण और दमन से मुक्ति पाने के संघर्ष में इस्तेमाल किया जा सके या उसका आधार कैसे बन सके ?

बहुत ही जरूरी है कि इन सभी मुद्दों पर बहस हो। इस बहस को जनता और नेता दोनों के लिए आवश्यक राजनीतिक शिक्षा की प्रकिया से अलग नहीं किया जा सकता है।

ये सब सवाल मेरा तर्क का मूल प्रश्न को प्रस्तुत करता है। सैद्धांतिक तौर पर झारखण्ड के इतिहास में प्रकट घटनाएं यह दर्शाती हैं कि राजनैतिक चेतना हर आन्दोलन की केन्द्रबिंदु रही है। और (एक तरह से देखा जाय तो) उसके भविष्य को निर्धारित करती है। सरल शब्दों में: यदि कुड़मी संप्रदाय अपनी पहचान को सिर्फ आदिवासी नहीं, बल्कि श्रमजीवी मानकर दावे के साथ कहते हैं (और उसके द्वारा एक ही प्रकार के **वैज्ञानिक पुनर्गठन** एवं **विकास** की प्रक्रिया में गुजर रहे समाज के अन्य समूहों के साथ संबंध बना पाते हैं) तो समाजवाद के लिए लड़ाई आगे बढ़ती है। राजनैतिक चेतना इस तरह के **संयोजन** बनाने की प्रक्रिया ही है।

मेरी समझ में इन संयोजनों को प्रकट करना, बढ़ाना, इन पर बहस करना एवं इनको समझने का काम उतना ही महत्वपूर्ण है जितना शोषित जनता को संगठित करने का काम। **वस्तुतः एक सीमित संख्या में संयोजनों के समूह को स्वीकार करके** ही (उदाहरण के लिए : 'दिकुओं' के द्वारा झारखण्ड की शोषण होता है) **संगठित करने का हर क्रिया की शुरुआत होती है।**

अतः किसी व्यक्ति या गुट जो शोषण के खिलाफ लड़ने के लिए अगुवाई करते हैं उनके लिए सीखना और सिखाना एवं विचारों के विनिमय निर्णायक तथा महत्वपूर्ण काम बन जाता है। मैं तो इससे भी बढ़ कर यह भी कहना चाहूँगा कि शिक्षा की विशेष किया ही आखिरकार जनता को संगठित करती है।

मुझे मालूम है कि ऐसे बहुत लोग हैं जिनके विचार मेरे विचार से भिन्न है। वामपंथियों में परम्परागत यह समझदारी रही है कि जनता संघर्ष के दौरान सीखते हैं। अर्थात्, जब किसान या मजदूर आन्दोलन में उतर जाते हैं, उस समय चर्चा, बहस एवं सीखने का वातावरण अपने आप तैयार हो जाता है। लेकिन इसकी सत्यता के बारे में मेरा सन्देह है। मैं अनुभव करता हूँ कि हमारे बीच में बहुत ही कम ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्होंने जनता संघर्ष के रास्ते पर उतरने के **पहले** उनके बीच चल रही ज्ञान/शिक्षा की प्रकृति को जांचने का कोशिश की है। अगर यह काम हम लोग करते तो शायद झारखण्ड के वर्तमान आन्दोलन को समझने में एक शुरुआत होती—जहाँ की जनता विश्वासघात, बिखराव के बावजूद लम्बे अरसे तक लड़ी और फिर एक बार आन्दोलन में शामिल हो गयी हैं। यदि इसको हमने सही ढंग में समझते, तो हम उस मूल्यवान शिक्षा-प्रक्रिया को प्रोत्साहित तथा प्रसार करने में कोशिश करते। शायद, 'झारखण्ड दर्शन' इसी काम को आरम्भ करेगा ?

दुनु राय, शाडोल (मध्यप्रदेश)

पत्रिका को आम जनता तक पहुँचाएं

'झारखण्ड दर्शन' का दूसरा अंक पढ़ा एवं इसे पत्रिका के नामानुकूल पाया।

यद्यपि पत्रिका झारखण्ड की समस्याओं एवं विभिन्न पहलुओं को अवगत कराने में पूर्णतः सक्षम रही है किन्तु भाषा एवं अभिव्यक्ति की सरलता के अभाव में जन-साधारण की समझ के लिए कुछ कठिन प्रतीत होता है।

कृपया 'झारखण्ड दर्शन' के अगले अंक को भाषा की सरलता को ध्यान में रख कर आम जनता तक पहुँचाएं ताकि पत्रिका वास्तव में झारखण्ड का दर्शन करा सके।

राजेन्द्र प्रसाद तिर्की, रांची

ऊ कि चिन्हत हमरा

श्रीनिवास पानुरी

झारखंड की लोक भाषा खोरठा के आदिकवि श्रीनिवास पानुरी का देहांत 7 अक्टूबर 1986 को हो गया। सन् 1950 के लगभग उन्होंने हिन्दी और खोरठा में लिखना शुरू किया था। सन् 1954 में खोरठा का प्रथम काव्य 'बाल किरण' प्रस्तुत किया गया। 1957 में पानुरीजी ने खोरठा भाषा में 'मातृभाषा' नाम की एक पत्रिका एवं कुछ वर्षों के बाद 'खोरठा' नाम की दूसरी पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। संस्कृत के कवि कालिदास के प्रसिद्ध 'मेघदूत' का खोरठा में अनुवाद कर उन्होंने खोरठा भाषा की भाव अभिव्यक्ति की क्षमता को प्रमाणित किया। ... झारखण्ड की लोक भाषा खोरठा के आदिकवि श्रीनिवास पानुरी को इस बात का अहसास था कि उनकी पहचान वे लुटेरी आँखें नहीं कर सकतीं जिनमें चील, गीध और लकड़बग्घा बसते हैं।

ऊ कि चिन्हत हमरा
जकर आँखी बास करे
चील, गीध लकरा
ऊ कि चिन्हत हमरा।
हौआ ऐसन आंइख कहँ
मानुष खातिर जे तरसे
खोजे सभेक आंइख आंइझ
सूधे आपन बखरा
ऊ कि चिन्हत हमरा।
मानुष खातिर प्यार नांय
कुकुर खातिर हृदय आसन
कामेक घड़ी सूधे फांकी
बोलेक घड़ी लम्बा भाषण
छल प्रपंच पूँजी जकर
हथियार लड़ाइ-झगड़ा
ऊ कि चिन्हत हमरा।
चिन्हल हे, हाँ, चिन्हल हे
छाती लगाय लेल हे
मानुष पथेक पथिक जे
हृदय आसन दे ले
बैसल कँवे ऊ आसने
ऊल्लू देखत हमरा
ऊ कि चिन्हत हमरा
जकर आँखों बास करे
चील, गीध लकरा।

□ □

मैं / पेड़

श्याम पात्रो

मैं छोटा था, तुम छोटे थे
तुम्हारे छोटे-छोटे छांव थे
मेरे भी वैसे ही पाँव थे
न मैं रूका न तुम रूके
कितने तूफानी दौरों से गुजरे दोनों
न मैं झुका न तुम झुके
पर यह जूझ / यह इक्कीसवाँ अंतराल
लो सब ही लूट गये
अब तुम भी तो कट गये !

सूरज

दिगम्बर मेश्राम (महाराष्ट्र के दलित कवि)

किसी ने सूरज को ठीक से नहीं देखा होगा
वरना
अंधेरे से क्यों दोस्ती करते लोग,
किसी बच्चे क अब दादी माँ
शायद ही दिखाती चांद
नहीं तो,
तारों का आकाश इतना उदास न होता
मेरे कबूतर से उड़ते दिन
उस तरह उदास न थे
जितना बहार आया, बसन्त का पेड़
मेरे दोस्त, गम न कर
दिन निकल जाते हैं
मगर सूरज को मत भूल।

भाँड़ में जाय समाज !

: झारखण्ड की मौजूदा राजनैतिक स्थिति से प्रेरित एक व्यंग कविता :

मंगल सिंह बोबोंगा

[कवि आजसू का केन्द्रीय समिति के सदस्य हैं—संपादक]

तट दामोदर पर आयोजित था शिकारियों का सम्मेलन,
गीध, चील, उल्लू बाजों का था विराट अधिवेशन।
जिसमें आये पंचों के हुए खुब व्याख्यान,
शामिल थे सब मंत्री सदर वक्ता विज्ञ प्रधान।
भाषण का सारांश यही था—बदले आज समाज
नहीं खायेंगे मांस-मछली करें प्रतिज्ञा आज।
बगुले ने मछली छोड़ी, उल्लू छोड़ा चूहा,
सभी बन गये अहिंसावादी, दृश्य गजब का आहा !
इतने में नदी धार में दीख पड़ी एक लाश,
छोड़ मंच को दौड़ पड़े, गीध सभापति खास।
देखा-देखी कौवा दौड़ा, उल्लू, बगुला, बाज,
स्वतःस्फूर्त बन गया कार्यक्रम, भाँड़ में जाय समाज ! □

दस्तावेज

● संथाल विद्रोह ●

□ 20 दिसम्बर, 1855 को दिये गये कानू संथाल के बयान से उद्धरण □

1855 में इतिहास प्रसिद्ध संथाल हूल के महान नायक कानू द्वारा गिरफ्तारी के बाद विशेष सहायक आयुक्त इशले ईडेन के समक्ष दिया गया बयान यहाँ प्रस्तुत है जिससे कुछ महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं।

— संपादक

"महाजनों ने बूरू दरोगा से शिकायत की कि सिदू और कानू एक डकैती करने के लिए लोगों को जमा कर रहे हैं और महाजनों ने आकर हमें पकड़ने के लिए उसको 100 रू० दिये। दरोगा बाबूपाड़ा में बैठा हुआ था। उसने पहले मेरे पास एक बरकंदाज को भेजा। उसने आदमियों को गिना। तब मैंने बरकंदाज को यह कहते हुए परवाना दिया कि ठाकुर आया है और हम शिकायत करने के लिए जमा हुए हैं, तुम क्यों दखल देते हो? दरोगा दो दिन रहा और तब चला गया।.....तब मैंने उसे बुलाया और वह महाजनों को लेकर मैदान में आया। उसने मुझसे पूछा, "तुम कहाँ जा रहे हो?" मैंने कहा, "मैंने तुमको जो परवाना भेजा है उसी के सिलसिले में मैं यहाँ आया हूँ।" उसने कहा कि उसने परवाना देखा है लेकिन ऐसी बात नहीं कि वह डर कर आया है और महाजनों ने उसे मेरे पास आने से मना करता हुआ एक परवाना दिखाया और उसे अपने साथ सिपाहियों को ले जाने को कहा, नहीं तो संथाल उसका सिर काट देंगे, तब मैंने कहा कि मैंने वह परवाना नहीं भेजा है, महाजनों ने मेरे परवाने को बदलकर उसे उसके पास भेजा है। मैंने कहा, "तुम क्यों आये हो?" उसने कहा, "मैं सर्पदंश से हुई एक मौत की छानबीन करने आया हूँ।" तब उसने कहा कि "तुम डकैती करने के लिए आदमियों को जमा कर रहे हो।" मैंने उससे यह साबित करने को कहा कि क्या मैंने चोरी या डकैती की है। अगर तुम ऐसा कुछ साबित करते हो तो मुझे जेल में डाल दो। महाजनों ने कहा कि अगर 1000 रू० लगें तो वे उसे कैद करने के लिए वैसा करेंगे। महाजन और दरोगा बहुत गुस्सा हो गये और उन्होंने मुझे बाँधने का आदेश दिया। महाजन मेरे भाई सिदू को बाँधने लगे, तब मैंने अपना तलवार निकाला, तब उन्होंने मेरे भाई को छोड़ दिया और मैंने मानिक मुड़ी का सिर काट दिया और सिदू ने दरोगा को मार दिया और मेरी सेना ने 5 आदमियों को मार डाला जिनके नाम मैं नहीं जानता हूँ, तब हम सब भगुवाड़ी लौटे।"

दस्तावेज

● दिसम्बर 1855 में संथाल विद्रोह से सम्बन्धित कोर्ट के कुछ अभिलेख ●

"जिला बीरभूम के सेशन्स जज द्वारा विभिन्न मियादों के लिए कैद की सजा से दंडित किये गये 22 अभियुक्तों का बयान, जिनको सरकारी आदेश, तारीख 3 दिसम्बर 1855, सं० 340) के तहत बीरभूम से हजारीबाग भेजा गया।

सं० कैदियों के नाम	अपराध	सजा और तारीख	व्यक्तियों के विवरण और निवास स्थान
1. सिंगराय मांझी वल्द मेघोर	लूटने के उद्देश्य से शान्ति भंग करने के लिए अवैध रूप से हथियारों के साथ दंगा करते हुए एकत्रित होना।	5 वर्ष बेड़ियों के साथ सश्रम कारावास। 12 नवम्बर 1855	उम्र करीब 29 वर्ष, रंग काला, चपटी नाक, बायें हाथ पर 4 जलने के निशान, दाहिने हाथ पर टीका का निशान, पीठ पर दाहिनी ओर फोड़े का निशान, लम्बाई 5 फुट 7 इंच, जाति संथाल, अशना थाना, जिला बीरभूम का निवासी।
2. नफर पाल कुमार वल्द मूचीराम	यथोपरि	यथोपरि	उम्र करीब 49 वर्ष, रंग काला, दोनों हाथों पर टीका के निशान, पेट पर फुंसी, बायें पैर पर घाव का निशान, ऊँचाई 5 फुट 2 इंच, जाति कुम्हार, यथोपरि निवास।
3. शाम माल पहाड़िया वल्द रूपनारायण	दंगा और लूट	यथोपरि। 13 नवम्बर 1855	उम्र करीब 37 वर्ष, रंग न काला न गोरा, बदन पर कई तिल, पीठ पर कँटिया गाड़ने के

			निशान, दाहिने पैर की एक उंगली पर घाव का निशान, ऊँचाई 5 फुट 2 इंच, जाति पहाड़िया माल, सनदा थाना नूली जिला भागलपुर का निवासी।
4. पारस मांझी वल्द खेटू	अज्ञात लोगों की सम्पत्ति लूटने के लिए अवैध पूर्वक हथियारों के साथ दंगा करते हुए जमा होना।	एक वर्ष बेड़ियों के साथ सश्रम कारावास और श्रम के बदले 25 रु० का जुर्माना। 14 नवम्बर 1855	उम्र करीब 16 वर्ष, रंग काला, चपटी नाक, बायें हाथ पर जलने के दो निशान, कानों में छेद, ऊँचाई 5 फुट, जाति संथाल, मसानगोड़, थाना नांगोलियां, जिला बीरभूम।
5. चन्द्र मांझी वल्द मुंगोला	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 18 वर्ष, रंग काला, नाक चपटी, बायें हाथ पर जलने के 3 निशान, पीठ पर काला निशान, ऊँचाई 5 फुट, जाति संथाल, निवासस्थान ऊपर जैसा।
6. सालखो मांझी वल्द गोरा	ऊपर जैसा	बेड़ियों के साथ 3 साल की कैद और श्रम के एवज में 100 रु० का जुर्माना। 14 नवम्बर 1855	उम्र 31 वर्ष, रंग न काला न गोरा, नाक चपटी, बाँयी हाथ पर जलने के 4 निशान, दाहिने हाथ पर टीके का निशान, ऊँचाई 5 फुट 3 इंच, जाति और निवास स्थान ऊपर जैसा।
7. सिंगराय मांझी, वल्द कुमार	अवैध रूप से दंगा करते हुए हथियारों के साथ जमा होना और जिला बीरभूम में कतना गाँव को लूटना।	5 वर्ष बेड़ियों के साथ सश्रम कारावास। 17 नवम्बर 1855	उम्र करीब 40 वर्ष, रंग न काला न गोरा, छाती पर एक फोड़े की निशानी, बायें हाथ पर जलने के 3 निशान, ऊँचाई 5 फुट 4 इंच, जाति संथाल, कतना, जिला बीरभूम का निवासी।

8. कांचन मांझी वल्द कुंभीर	ऊपर जौसा	ऊपर जौसा	उम्र करीब 35 वर्ष। रंग न काला न गोरा, बाँये हाथ पर जलने के 7 निशान, दाहिने हाथ पर टीका का निशान, ऊँचाई 5 फुट 5 इंच, तिलबोनी, थाना अफजलपुर, जिला बीरभूम का निवासी।
9. लखन मांझी वल्द गोविन्द	ऊपर जौसा	ऊपर जौसा	उम्र करीब 38 वर्ष। रंग न काला न गोरा, चौड़ा ललाट, चपटी नाक, बायें हाथ पर जलने के 4 निशान, दाहिने हाथ पर टीके के निशान, दाहिने पैर की दो उँगलियाँ टेढ़ी, ऊँचाई 5 फुट 6 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जौसा।
10. कालू मांझी वल्द रामराय	ऊपर जौसा	ऊपर जौसा	उम्र करीब 45 वर्ष, रंग न काला न गोरा, चौड़ा ललाट, चपटी नाक, बायें हाथ पर टीके के तीन निशान और दाहिने हाथ पर, पीठ पर दाहिनी ओर फोड़े का निशान, ऊँचाई 4 फुट 11 इंच, जाति संथाल, निवासस्थान ऊपर जौसा।
11. धूनी माँझी वल्द कोइ	ऊपर जौसा	ऊपर जौसा	उम्र करीब 37 वर्ष, रंग काला, बायें हाथ पर जलने के 3 निशान, दाहिने हाथ पर टीके के निशान, पीठ पर घाव केकई निशान, ऊँचाई 5 फुट 6 इंच, जाति संथाल, लियोलबोना, थाना अफजलपुर, जिला बीरभूमि का निवासी।

12. रूरू मांझी वल्द रामराय	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 29 वर्ष, रंग काला टीके के निशान और बायें हाथ पर जलने के 3 निशान और पीठ पर एक, ऊँचाई 5 फुट 2 इंच जाति संथाल, जिलाबाद का निवासी
13. मोटा मांझी वल्द काड़े	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 41 वर्ष, रंग काला, बाँये हाथ पर जलने के 4 निशान, दाहिने हाथ पर टीके के निशान, दाहिनी आँख के नीचे एक Postub, जाति संथाल, सूबेबोना, थाना अफजलपुर, जिला बीरभूम।
14. बागुड़ मांझी बल्द बुनार	अवैध रूप से दंगा करते हुए हथियारों के साथ जमा होना और जिला बीरभूम के कतना गाँव को लूटना	बेड़ियों के साथ 5 वर्ष सश्रम कारा-वास। 17 नवम्बर 1855	उम्र करीब 39 वर्ष, रंग काला, चपटी नाक, कानों में छेद, बदन पर दाद के निशान, बायें हाथ पर टीके के निशान, ऊँचाई 5 फुट, जाति संथाल, खजूरी, थाना अफजलपुर, जिला बीरभूम का निवासी।
15. बिशू मांझी वल्द गंभीर	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 36 वर्ष, रंग न काला न गोरा, पीठ की बायीं ओर एक फोड़े का निशान, बायें हाथ पर जलने के 3 निशान, दाहिने हाथ पर टीके के निशान, ऊँचाई 5 फुट 7 इंच, तेलाबाद, थाना और जिला ऊपर जैसा, जाति संथाल।
16. कर्ण माँझी वल्द चंपाई	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 28 वर्ष, रंग काला, नाक चपटी, बायें हाथ पर जलने के 3 निशान, दाहिने हाथ पर टीके के निशान, ऊँचाई 5 फुट 2 इंच, जाति

			संथाल, बागिंगा, अफजलपुर थाना का निवासी।
17. राज माँझी वल्द चत्तूरा	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 34 वर्ष, रंग काला, नाक चपटी, बायें हाथ पर जलने के 7 निशान, बायें कंधे के पीछे तरफ नीचे एक फोड़े का निशान, ऊँचाई 5 फुट 2 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
18. दोलेल माँझी वल्द मानसिंग	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 56 वर्ष, रंग न काला न गोरा, कानों में छेद, दोनों हाथों पर टीके के निशान, ऊँचाई 5 फुट 4 इंच, जाति संथाल, कोटापोबार्या, थाना नलहोलज, जिला बीरभूम का निवासी।
19. शीतल माँझी वल्द बीरसिंग	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 15 वर्ष, रंग काला, छोटी नाक, कानों में छेद, बायें हाथ पर टीके के 5 निशान, ऊँचाई 4 फुट 10 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
20. बीरसिंग वल्द शोम	हथियार लेकर अवैध रूप से दंगा करते हुए जमा होना और जिला बीरभूम में कतुना गाँव को लूटना	बेड़ियों के साथ 5 वर्ष सश्रम कारावास। 7 नवंबर 1855	उम्र करीब 45 वर्ष, रंग न काला न गोरा, बायें हाथ पर टीके के चार निशान और दाहिने हाथ पर एक, ऊँचाई 5 फुट 11 इंच, जाति संथाल निवास स्थान ऊपर जैसा।
21. कत्तर माँझी वल्द मेघराय	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र 35 वर्ष करीब, रंग न काला न गोरा, पेट पर फोड़े का निशान, दोनों हाथों पर टीके के निशान, ऊँचाई

			5 फुट 3 इंच, सबरपुर, थाना नलहटी, जिला बीरभूम का निवासी, जाति संथाल।
22. रामन मांझी	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 33 वर्ष, रंग काला, छोटी नाक, बायें हाथ पर टीके के 5 निशान और दाहिने हाथ पर एक, ऊँचाई 5 फुट 3 इंच, घेरिया पोनी, थाना नलहटी, जिला बीरभूम का निवासी।

जिला बीरभूम के सेशन्स जज द्वारा विभिन्न मियादों के लिए कैद की सजा से दंडित 20 अभिशंसितों का बयान जिन्हें सरकारी आदेश, ता० 3 दिसम्बर 1855, सं० 3400 के तहत बीरभूम से बाँकुरा भेजा गया।

सं कैदियों का नाम	अपराध	सजा और तारीख	व्यक्ति के विवरण और निवास स्थान
1. जगू मनी वल्द रंजीत	हत्या करने के उद्देश्य से एवं शांति भंग करने के लिए आक्रामक हथियार लेकर अवैध रूप से दंगा करते हुए जमा होना	बेड़ियों के साथ 3 वर्ष कैद की सजा और 9 दिसंबर के पहले श्रम के एवज में 100 रू० का जुर्माना चुकाना। 9 नवंबर 1855	उम्र करीब 60 वर्ष, रंग काला, भूरी आँखें, पेट के नीचे एक फुसी, बायें हाथ पर टीके के 4 निशान, ऊँचाई 5 फुट, गरियापानी, थाना नलहटी जिला बीरभूम का निवासी, जाति संथाल।
2. दूलभ वल्द कानू	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 38 वर्ष, रंग न काला न गोरा, कानों में छेद, भूरे बाल, बायें हाथ पर टीके के 4 निशान, ऊँचाई 5 फुट 5 इंच, जाति संथाल, गरियापानी, थाना नलहटी, जिला बीरभूम का निवासी।

3. बिशू निउई वल्द शंख	ऊपर जैसा	बेड़ियों के साथ 6 वर्ष सश्रम कारावास। 9 नवम्बर 1855	उम्र करीब 38 वर्ष, काला रंग, कानों में छेद, बाँये हाथ पर टीके के तीन निशान, ऊँचाई 5 फुट 3 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
4. सलोर पर्च मौचेक वल्द सीध	हत्या के उद्देश्य से और शान्ति भंग करने के लिए आक्रामक हथियार लेकर अवैध रूपसे दंगा करते हुए जमा होना।	बेड़ियों के साथ 3 साल कैद की सजा और श्रम के एवज में 100 रु० का जुर्माना। 9 नवम्बर 1855	
5. दीनू मोनी	ऊपर जैसा	5 वर्ष सश्रम कारावास। 9 नवम्बर 1855	उम्र करीब 23 वर्ष, रंग न काला न गोरा, छोटी नाक, बायीं काँख पर जलने का निशान, बाँयी हाथ में टीके के 2 निशान, ऊँचाई 5 फुट 3 इंच, जाति कमार, निवासस्थान ऊपर जैसा।
6. बलराम मंगी वल्द मंगलो	हत्या के उद्देश्य से और शान्ति भंग करने के लिए आक्रामक हथियार लेकर अवैध रूप से एवं दंगा करते हुए जमा होना।	बेड़ियों के साथ तीन वर्ष कैद की सजा और श्रम के एवज में 100 रु० का जुर्माना। 9 नवम्बर 1855।	उम्र करीब 16 वर्ष, रंग न काला न गोरा, बायें हाथ पर टीके के 6 निशान, ऊँचाई 5 फुट, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
7. मरिया मंगी वल्द निमाई	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 15 वर्ष, रंग काला, चपटी नाक, बाँये हाथ पर टीके के 3 निशान और दाहिने हाथ पर एक निशान, ऊँचाई 5 फुट 1 इंच, निवास स्थान और जाति ऊपर जैसा।

8. चुंडरी	ऊपर जैसा	बेड़ियों के साथ 5 वर्ष सश्रम कारावास। 9 नवम्बर 1855	उम्र करीब 46 वर्ष, रंग न काला न गोरा, कान में छेद, बायें हाथ पर टीके के 4 निशान, ऊँचाई 5 फुट 7 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
9. रंजीत वल्द इंगू	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 27 वर्ष, छोटी नाक, बायें हाथ पर टीके के 5 निशान, और दाहिने हाथ पर एक निशान, ऊँचाई 5 फुट 5 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
10. मंगल वल्द चेदोम	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 40 वर्ष, बायें हाथ पर टीके के 6 निशान और दाहिने हाथ पर एक निशान, ऊँचाई 5 फुट, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
11. सोना वल्द दोना	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 16 वर्ष, रंग काला न गोरा, कानों में छेद, बायें हाथमें टीके, ऊँचाई 5 फुट 2 इंच, जाति संथाल निवास स्थान ऊपर जैसा।
12. गोपाल मार्या वल्द परन	ऊपर जैसा	बेड़ियों के साथ 3 वर्ष सश्रम कारा-वास। 9 नवम्बर 1855	उम्र 60 वर्ष, रंग न काला न गोरा, भूरे बाल, कानों में छेद, बायें हाथ पर टीके के 4 निशान और दाहिने हाथ पर एक, पीठ पर बायीं ओर एक फुंसी, ऊँचाई 5 फुट 5 इंच, जाति कमार, निवास स्थान ऊपर जैसा।
13. मुरजी मांझी वल्द लखन	ऊपर जैसा	बेड़ियों के साथ 5 वर्ष सश्रम कारा-वास। 9 नवम्बर 1855	उम्र करीब 38 वर्ष, रंग काला, नाक चपटी, बायें हाथपर टीके के 5 निशान और दाहिने हाथ एक, ऊँचाई 5 फुट 5 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।

14. निमाई मांझी वल्द संकू	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 39 वर्ष, रंग काला, कानों में छेद, बायें हाथ पर टीके के 5 निशान और दाहिने हाथ पर दो निशान, ऊँचाई 5 फुट 4 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
15. मंगस मांझी वल्द तनखू	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र 34 वर्ष, रंग काला, कानों में छेद, बायें हाथ पर टीके के 6 निशान और दाहिने हाथ पर दो, ऊँचाई 5 फुट 4 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
16. शाम वल्द रतीनू	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 36 वर्ष, रंग न काला न गोरा, कानों में छेद, बायें हाथ पर टीके के 3 निशान और दाहिने हाथ पर एक निशान, ऊँचाई 5 फुट 4 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
17. मेघराय वल्द हंगरो	ऊपर जैसा	बेड़ियों के साथ 6 वर्ष सश्रम कारा-वास। 9 नवंबर 1855	उम्र करीब 60 वर्ष, रंग न काला न गोरा, कानों में छेद, बायें हाथ पर टीके के 4 निशान और दाहिने हाथ पर एक, ऊँचाई 5 फुट 5 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।
18. डोमन माँझी वल्द प्रोस्तेन	ऊपर जैसा	बेड़ियों के साथ 3 वर्ष सश्रम कारावास। और श्रम के एवज में 100 रू० का जुर्माना 9। नवंबर 1855	उम्र 58 वर्ष, रंग न काला न गोरा, कानों में छेद, पीठ पर फोड़े का निशान, बायें हाथ पर टीके के 4 निशान और दाहिने हाथ पर एक ऊँचाई 5 फुट 1 इंच, जाति संथाल, सबरपुर, थाना नलहटी, जिला बीरभूम का निवासी।

19. राम मांझी वल्द अन्ता	ऊपर जैसा	बेड़ियों के साथ 5 वर्ष सश्रम कारा-वास। 9 नवम्बर 1855	उम्र करीब 37 वर्ष, रंग न काला न गोरा, कानों में छेद, बायें हाथ पर टीके के 7 निशान, दाहिनी आँख के नीचे फोड़े का निशान, ऊँचाई 5 फुट 4 इंच, जाति और निवास स्थान ऊपर जैसा।
20. बर्षा वल्द बेस्सू	ऊपर जैसा	ऊपर जैसा	उम्र करीब 35 वर्ष, रंग न काला, न गोरा, कानों में छेद, बायें हाथ पर टीके के 6 निशान और दाहिने हाथ पर एक निशान, ऊँचाई 4 फुट 11 इंच, जाति संथाल, निवास स्थान ऊपर जैसा।

बीरभूम
13 दिसम्बर 1855

ए० आर० थोम्पसन
ऑफिशियेटिंग मैजिस्ट्रेट

● सबसे खतरनाक होता है
मुर्दा शांति से मर जाना
न होना तड़प का
सब सहन कर लेना
सबसे खतरनाक होता है
हमारे सपनों का मर जाना
सबसे खतरनाक वह चांद होता है
जो हर कत्लकांड के बाद
सन्नाटे भरे आंगन में चमकता है
पर तुम्हारी आंखों में
मिर्चों-सा नहीं रगड़ता! ●

अवतार सिंह पाश : पंजाब के क्रांतिकारी कवि जो 23 मार्च 1988 को खालिस्तानी आतंकवादियों के शिकार हो गये।

झारखण्डी गाँवों के नामों में छुपी हुई है झारखण्ड की अनमोल प्रकृति और संस्कृति

श्रीमती वीणापाणी महतो

नाम की आवश्यकता

सृष्टि के चल-अचल सभी पदार्थों के नाम होते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, पेड़, पौधे, फल, फूल, नदी सागर, ग्रह, नक्षत्र आदि को उनके नामों से पहचाना जाता है। इन तमाम चीजों के नाम न होने से उत्पन्न जटिलता के बारे मे तनिक भी कल्पना नहीं की जा सकती। नाम की आवश्यकता इसी से भलीभाँति समझ में आती है।

किसी भी प्राणी या जड़ पदार्थ का नाम सामान्यतः उसकी आकृति, रंग तथा अन्तर्निहित गुणों पर निर्भर करता है। इसीलिए चर्वित वस्तु या प्राणी के नाम से उसके बारे में किंचित धारणा बन जाती है।

व्यक्ति का नाम और उसका आधार

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। परिवार एवं समाज में अपना व्यक्तिगत अस्तित्व बनाए रखने में नाम अहम भूमिका अदा करता है। यही कारण है कि 'नाम-करण' एक संस्कार के रूप में सभी समाजों एवं देशों में स्वीकृत किया गया है। प्रारंभिक काल में छोटे एवं सरल नाम हुआ करते थे। क्रमशः लोग सार्थक नामों में रूचि लेने लगे। इसी के फलस्वरूप सरल नामों के स्थान पर अर्थ-युक्त एवं कलात्मक नामों का प्रचलन चल पड़ा। तमाम पहलूओं का उल्लेख करना इस लेख में सम्भव नहीं है। उनमें से कुछ पहलुओं को नीचे दिया गया है जिनके आधार पर नवजात शिशु का नामकरण किया जाता है। जैसे—(1) शरीर के रंग के आधार पर : तुषारकांति, कृष्ण, श्याम, श्वेता, शुभ्रा, शुक्ला गौरी आदि (2) देवी देवता के नामों के आधार पर: लक्ष्मीपद, दुर्गापद, दुर्गाप्रसाद, गणेश, रमा, लक्ष्मी, कमला, भवानी, शक्ति आदि (3) नदियों के नामों के आधार पर: गंगा प्रसाद, दामोदर, जमुना, गंगा, शिप्रा नर्मदा आदि।

इनके अतिरिक्त नामों के कई दूसरे आधार भी होते हैं जैसे ऋतु-मौसम, ग्रह-नक्षत्र, हीरा-मोती आदि रत्नों के नाम, पुरखों के नाम, ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक, राजनैतिक विशेषणों के आधार आदि। नाम के जरिये नवजात शिशु को निजी पहचान बन जाने के साथ-साथ जन्म-तिथि, विशेष अवस्था, परिवेश, माता-पिता की मानसिकता, विश्वास, आशा-आकांक्षा, रुचि आदि यादगार बन जाते हैं।

गाँवों के नाम और उनके आधार

भूत तत्व

विश्लेषण करने पर गाँवों के नामों में भी वैसी ही प्रक्रिया दिखाई पड़ती है। नाम से गाँव की एक स्वतन्त्र पहचान बन जाती है। यानी गांव को अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाए रखने में उसका नाम सहायक सिद्ध होता है।

भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार ग्रामीण संस्कृति है। शहर, नगर और महानगरों की तुलना में हमारे गाँवों

इस लेख में सिर्फ 'गांवों के नाम' चर्चा का विषय है। नाम से संबंधित इतिहास का समावेश यहां नहीं किया गया है। गांवों के नामों में ज्यादा से ज्यादा स्थानों का प्रतिनिधित्व बना रहे, यह प्रयत्न अन्त तक जारी रखा गया है।

—लेखिका

की संख्या कहीं अधिक है। भारतीय संस्कृति इन्हीं गाँवों में पली है। गाँवों के नामों में इसकी झलक देखने को मिलती है। इन नामों को समझने के लिए अतीत में झाँक कर देखना आवश्यक हो जाता है। मनुष्य जब गाँव बसाया होगा उस समय उस विशेष जगह की प्राकृतिक, भौगोलिक परिस्थिति तथा अपनी अनुभूति, विश्वास आदि के आधार पर उस जगह या गाँव का नाम रखा होगा। अपना बसाया हुआ गाँव उसे उतना ही प्यारा रहा होगा जितनी कि उसकी अपनी सन्तान। यह स्वाभाविक है कि उस स्थान की उल्लेखनीय विशेषताओं को ध्यान में रखकर उसी के आधार पर गाँव का नामकरण किया गया होगा।

गाँव का नाम महत्वपूर्ण इसलिए होता है कि उस नाम के साथ स्थान-विशेष की भौगोलिक, प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक विशेषताएँ जुड़ी हुई होती हैं जो अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिवेश की बदौलत अलग-अलग होती हैं। इसी कारण गाँव के नाम सुनकर यह जानने में कठिनाई नहीं होती कि उक्त गाँव किस प्रान्त में है। इस सन्दर्भ में कुछ उदाहरण पेश हैं।

अविभक्त बंगाल की समतल भूमि गंगा, पद्मा, मेघना आदि नदियों एवं उनकी उपनदियों के चलते नदीमय लगती है। इनसे उत्पन्न बेशुमार नहरें जाल की भाँति चारों ओर फैली हुई हैं। उन्हें वहाँ 'खाल' कहा जाता है। सड़कों की भांति लोग खालों में नावों के जरिए आवागमन करते हैं। इन्हीं खालों के किनारे बसे गावों के नामों में 'खाल' शब्द का प्रयोग किया गया है जैसा कि 'धनेखाली', 'नोवाखाली' (अब बंगला देश के अन्तर्गत) आदि वहाँ के प्राकृतिक परिवेश तथा उस पर निर्भरशील जन-जीवन की ओर संकेत करते हैं। दूसरी ओर—'गढ़-संस्कृति' सम्पन्न स्थानों के नामों में 'गढ़' शब्द का व्यवहार देखा जाता है। गढ़ संस्कृति के लिए राजपुताना (आधुनिक राजस्थान) का इतिहास प्रसिद्ध है। इसकी झलक चितौड़गढ़, रामगढ़, अनूपगढ़, जूनागढ़, किशनगढ़ आदि नामों में मिल जाता है। देश के अन्य भागों में भी गढ़-संस्कृति वाले नामों के उदाहरण मिलते हैं, जैसे रामगढ़, धालभूमगढ़, जैंतगढ़, ईंचागढ़ (छोटा-नागपुर); केन्द्रझरगढ़, बामड़ागढ़, बोनाईगढ़ (उड़ीसा) आदि। कुछ जगहों के नाम उनके संस्थापकों के नाम पर रखे जाते हैं। राजस्थान के जयपुर, जोधपुर, जैसलमेर आदि जगहों के नाम क्रमशः सवाई जयसिंह, जोधासिंह, जैसलसिंह के नाम और शौर्य के गुणगान करते आ रहे हैं। उत्तरप्रदेश का शिकोहाबाद (शाहजहान के ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह के नाम पर), सिंहभूम का आदित्यपुर (सराईकेला के राजा आदित्य प्रताप सिंहदेव के नामानुसार) आदि नाम मिसाल के रूप में लिए जा सकते हैं। श्रीरंगपट्टणम्, मछलीपट्टणम्, कांचीपुरम्, महाबलिपुरम् अनन्तपुरम् (पुरम् = नगर), सालुरु, गुन्टूरु (उरु — बस्ती) नागार्जुन कोंड़ा, पेनु-कोंड़ा (कोंड़ा-पहाड़), तिरुचिरापल्लि, मदुराई आदि नामों को सुनते ही दक्षिण-भारत हमारे मानसपटल पर उभर आता है। इसी प्रकार नामों के बारे में गहराई से सोचने से तत्सम्बन्धित कुछ खास बातों का बोध हमें हो जाता है।

झारखण्डी गाँवों के नाम एवं उनके आधार

नाम की आवश्यकता, प्रासंगिकता तथा मनुष्यों एवं गाँवों के नामों पर किंचित चर्चा करने के पश्चात् झारखंडी गाँवों के नामों तथा उनके आधार भूत-तत्वों पर गौर करना आवश्यक है। यह सर्वविदित है कि झारखण्ड का इलाका बिहार के छोटानागपुर एवं संथाल परगना के समस्त जिलों तथा उनसे सटे हुए उड़ीसा के मयूरभंज, क्योंझर, सुन्दरगढ़, सम्बलपुर, बंगाल के पुरुलिया, मेदिनीपुर, बाँकुड़ा जिलों और मध्यप्रदेश के सरगुजा और रायगढ़ जिलों में फैला हुआ है। इस विशाल प्रान्त का भौगोलिक और प्राकृतिक परिवेश पार्श्ववर्ती समतल बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा से भिन्न है। यहाँ की प्राचीन पहाड़ी जनजातीय संस्कृति एवं सभ्यता बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा की मैदानी सभ्यता-संस्कृति से बिलकुल अलग है।

इस निबन्ध में बिहार, बंगाल और उड़ीसा राज्यों में पड़ने वाले झारखण्ड के इलाकों के गाँवों का उल्लेख किया गया है। निबन्ध में इन राज्यों का जिक्र इसी सिलसिले में किया गया है। —लेखिका

दिल्ली सल्तनत (खण्ड vi), हिस्टरी एण्ड कलचर ऑफ इंडियन पीपुल, केम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया, हिस्टरी ऑफ बंगाल, बिहार थ्रू एजेस (डा० कानूनगो), मुंडास एण्ड देयर कन्ट्री (एस० सी० राय), दि भूमिज रिवोल्ट (जे० बी० झा) आदि ग्रन्थों में इस प्रान्त को 'झारखण्ड' नाम से उल्लेख किया गया है। 'श्री श्री चैतन्य चरितामृत' (श्री कृष्णदास कविराज) ग्रन्थ में भी इसे 'झारीखण्ड' नाम से चिन्हित किया गया है। यह नाम यहाँ की झाड़ियों, जंगलों, पहाड़ों एवं चट्टानी पठारी क्षेत्र को प्रतिबिंबित करता है। यहाँ बसे लोगों के दैनन्दिन जीवन के साथ इन झाड़ियों, जंगलों, नदियों, नालों, झरनों, वृक्षों, पौधों, फलों, फूलों जंगल में विचरण करनेवाले पशु-पक्षियों का अटूट सम्बन्ध सदियों से चला आ रहा है। अतः यहाँ बसे गाँवों के नामों के साथ इन भौगोलिक, प्राकृतिक विशेषताओं का तालमेल रहना स्वाभाविक तथा तर्क-संगत है। आईये, इन पर कुछ विस्तार से गौर किये जाये।

भौगोलिक विशेषताएं और गाँवों के नाम

पहले यह बताया जा चुका है कि भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिवेश का प्रभाव गाँवों के नामों में देखने को मिलता है। झारखण्डी गाँवों के नामों में भी इनके प्रभाव सुस्पष्ट हैं। यहाँ बसे गाँवों के नामों पर किस हद तक इन विशेषताओं का प्रभाव पड़ा है इस विषय की चर्चा करना यहाँ आवश्यक है।

1. पेड़ों के आधार पर गाँवों के नाम

यहाँ के जंगलों में तरह-तरह के वृक्षों के भण्डार देखने को मिलते हैं। गाँवों के नामों के साथ-साथ यहाँ के वृक्षों के बारे में भी जानकारी मिलती है और वे वृक्ष साल, असन, मुर्गा, ध, पलाश, महुल, बाँस, सिरिस, आम, जाम आदि हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ गम्हार, अर्जुन, नीम, कुसुम, करम, केन्दू, पियाल, शिमुल, बड़, जईड़ (पीपल), ताल, खजूर, बेगना, इमली आदि पेड़ों को आमतौर पर देखा जा सकता है। इन पेड़ों से गृह-निर्माण के लिए, बैलगाड़ी, हल, खाट आदि के लिए तथा जलावन के लिए लकड़ी, खाने के लिये फल, तेल के लिए (नीम, कोचड़ा, कुसुम) बीज, बर्त्तन के लिए (साल, रुद्र) पत्ता, चटाई के लिए (खजूर) पत्ता, छाता और चीहड़ (बर्साती) के लिये घंग पत्ता आदि मिल जाते हैं। इन उपकारी पेड़ों के नाम भी गाँवों के नाम-माला में पिरोये गये हैं। मेदिनीपुर जिला के सालशिउली, सालपातड़ा, बाँसकेटिया, खेजरडांगा आमलातड़ा, आमलरा, दांतीबेगना, पुरुलिया जिला के धंडांगा, जईड़षाड़ा, धंगड़ा, बाँकुड़ा जिला के तालडांगरा, मयूरभंज जिला के गम्हारिया, जामकेसर, जामतोला, अर्जुनबिला, बाँसनाली, तेन्तुलगोसी, केन्दुआ, क्योंझर जिला के नीमसाई, धंकटा बाँसपुर, बाँसला, सिंहभूम जिला के महुलडारी, कामसोल, कामरदा, पलामू के गम्हरिया आदि गाँव के नाम प्रचुर मात्रा में मिलने वाले इन पेड़ों के आधार पर दिये गये हैं। जिस पेड़ के साथ जिस गाँव का सम्बन्ध ज्यादा रहा होगा उसी पेड़ के नाम पर गाँव का नाम अनायास रख लिया गया होगा।

2. फल-फूलों के आधार पर गाँवों के नाम

झारखण्ड के हरे-भरे जंगलों में मिलने वाले भाँति-भाँति के फलों तथा फूलों के रूप, रंग, स्वाद और महक वनों की शोभा में चार चाँद लगा देते हैं। आम, जाम, बेल, कुल (बेर), आमड़ा, डुमुर, पियाल, केन्दु, भुड़रु, तेंतुल (इमली) आदि फलों के साथ पलास, शिमुल, कुड़चो, महुल, धाधकी, कुन्द आदि फूलों के बहार से झारखण्डवासियों का तन-मन आनन्दोल्लास से भर जाता है। फलों के आधार पर मिलनेवाले गाँवों के नामों के अन्तर्गत बंगाल के बेलडांगा, डुमरिया, केन्दडांगरी, कुसुमगड़ा, भेलाईडीहा (मेदिनीपुर), तालडांगरा (बाँकुड़ा), कुलडीहा, बहड़ामुड़ी, आमडीहा (पुरूलिया), बिहारके केन्दुआ, करकेन्द (धनबाद), कुलियाना, डुमरिया (सिंहभूम), तेंतला (रांची), बरवाडीह (पलामू), डुमरीकला (हजारीबाग), उड़ीसा के आँवलाजुड़ी, कोचड़ा, कुलपसी, तालबंध (मयूरभंज), केन्दुआ, केन्दुझर (क्योंझर), बरगड़ (सम्बलपुर) आदि गाँव देखे जा सकते हैं।

फूलों के अधार पर मिलनेवाले गाँवों के नाम निम्न प्रकार हैं। बंगाल के धाधका, कुन्दा,

कदमा, महुलिया, (पुरुलिया), भावकी (बाँकुड़ा), सालकडुबा, कुड्चीपहाड़ी, सालकचापड़ा (मेदिनीपुर), उड़ीसा के घावकिया, पलाशबधा, ब्रड़पलशा, कदमबेड़ा (मयूरभंज), बिहार के कदमा, शिमुलडांगा (सिंहभूम), सालकचापड़ा (धनबाद), कुन्दा (हजारीबाग) आदि। इन नामों से इन फूलों-फलों से लोगों के गहरे लगाव को समझा जा सकता है।

3. कांटा, झाड़ के आधार पर गांवों के नाम

वन-जंगलों में कांटा-झाड़ भी बेशुमार पाये जाते हैं। कांटों को घेरने के काम में लगाया जाता है। कहीं-कहीं इन झाड़ियों एवं कांटे वाले वनों को साफ कर गांव बसाये गये हैं। इन्हीं के नाम पर कुछ गांवों के नाम काँटाडीह, झाँटीपाहाड़ी (पुरुलिया), काँटासोला, झाड़ग्राम (मेदिनीपुर), झाड़गाँ, झाड़बेड़ा, बेतनटी (मयूरभंज), खाड़ंगाझाड़ (सिंहभूम) आदि पड़ा है।

4. पहाड़ के आधार पर गांवों के नाम

वन जंगलों के साथ बेशुमार पहाड़-पर्वतों से भरा है विशाल झारखण्ड प्रान्त। दलमा, शिमलीपाल, राजमहल आदि प्रसिद्ध पर्वतश्रेणियां नैसर्गिक सौन्दर्य को द्विगुणित करते हुए यहाँ की सभ्यता और सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा करते आ रहे हैं। इनके समीपवर्ती तथा मध्यभाग में स्थित समतल भूमि में कई गाँव बसे हैं। ऐसे गांवों के नामों में अक्सर 'पहाड़' शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। उड़ीसा के पहाड़पुर, पहाड़मलक, बुरूडीह, बंगाल के पहाड़पुर, एवं बिहार के पहाड़कोल, पहाड़टोली, पांहाड़ आदि गांव इनके पहाड़ों के साथ अविछिन्न संपर्क को दर्शाता है।

5. पशुओं के आधार पर गांवों के नाम

पहाड़ी एवं घने जंगलों में विचरण करने वाले जानवरों में यहाँ हाथी, बाघ (शेर), भालू, बराह, शियाल (सियार), मिरगी (मृग), आदि प्रमुख हैं। मांस के लिए मिरगी एवं बराह का शिकार किया जाता है। अपने जीवन की रक्षा हेतु कभी-कभी इन्हें बाघ, भालू, हाथी का भी शिकार करना आवश्यक हो जाता है। कभी विजयश्री इनके चरण चूमती है तो कभी ये खुद दुर्घटनाओं के शिकार हो जाते हैं। मानव और पशु के इस संघर्षमय जीवन में कुछ ऐसी घटनाएं घटती हैं जिनकी स्मृतियों को गांवों के नामों के जरिये यादगार के रूप में संजोकर रख लिया गया होगा—इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

बंगाल के बाघमुंडी, हाथीयाकोल, भालूबासा, बाराहगाड़ी, बराहभूम (पुरुलिया), बाघमुड़ी, बरहासुली (मेदिनीपुर), उड़ीसा के हाथीबारी, हाथीदांड़ी, बाघधरा, बारहाकामड़ा, बारहाटिपरा, सियालनई, सियालनई, मिरगीनेण्डी आदि, बिहार के भालूबासा, बाघबेड़ा, भालुकबिंधा (सिंहभूम), हाथीदानी (हजारीबाग), बाघमारा (धनबाद), बाघडेगा (पलामू) आदि गांव की नाम इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

6. पक्षियों के आधार पर गांवों के नाम

पक्षियों के आधार पर कई गांवों के नाम देखे जा सकते हैं : जो निम्न प्रकार हैं : बंगाल के मयूराबाँधी, पायरागुड़ी (पायरा = कबूतर) गिधनी (मेदिनीपुर), सारसकोल, सारसडांगा (बाकुड़ा) सुगनिबासा, सुकलाड़ा, गिधिघांटी, खुकड़ामुड़ा (खुकड़ा=मुर्गी) (पुरुलिया), उड़ीसा के खुकड़ाजुड़ी, खुकड़ाखुंपि, पेंचासाइ (पेंचा=उल्लू), गिधिबास (कयोंझर), गिधिघाटी, मेजराहुड़ी (मेजरा = मयूर), चीलबिंधा, सारसकना (मयूरभंज) बिहार के कालितितिर, पायरागुड़ी, मेजुरनाचा आदि।

7. मिट्टी के रंग और चट्टानी टीलों के आधार पर गांवों के नाम

बिहार एवं बंगाल के गांगेय भूमि के विपरीत यहाँ के मिट्टी लाल रंग की होती है। लाल रंग को यहाँ 'रांगा' कहा जाता है। इसी के आधार पर रांगामाटिया रांगटांड़, रांगामाटी, आदि गाँवों के नाम यहाँ पाए जानेवाले लाल रंग की मिट्टी की ओर इंगित करते हैं।

बंगाल और बिहार की गांगेय समतल भूमि तथा बंगाल और उड़ीसा की समुद्रतटीय समतल भूमि के विपरीत यहाँ की जमीन कँकड़ीली, पथरीली और चट्टानों से युक्त होती है। हुड़ी, डुंगरी (ऊँचा पथरीला-टीला) जहाँ तहाँ देखने को मिलते हैं। अँगारापथरा (धनबाद), डुंगरीकोल, रुगड़ी (कंकड़), टुइलाड़ुगरी खूनड़ुंगरी (सिंहभूम), गोंजापथर (गोंजा = नुकीला) (क्योंझर), पथरचकलि आदि गाँव के नाम इस तथ्य की ओर हमारी दृष्टि को आकर्षित करते हैं।

फसलों से सम्बन्धित गाँवों के नाम

कई गाँव ऐसे भी हैं जिनके नाम फसलों से सम्बन्ध रखते हैं। इनको दो भागों में बाँटा जा सकता है : (i) शस्यों के आधार पर एवं (ii) साग-सब्जियों के आधार पर।

(i) शस्यों के नाम पर गाँवों के नाम

तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद यहाँ के निवासी कठिन परिश्रम करके कृषि कार्य करते हैं। धान, कोदो, गुंदली, बिरि (उड़त दाल), कुरथी, राई, तील आदि फसल यहाँ होते हैं। बिहार के धानवाइद, कोदो-डीहा, कोदोबाड़ी, गुंदलीपोखर आदि, उड़ीसा के तील-पोसी, कोदोमड़क, बंगाल के धानचटानी, कोदोबाड़ी (बांकुड़ा), राईडीहा, सोरषाबासा (पुरुलिया), कदपिंडरा, बिरिहाँड़ो (मेदिनीपुर) आदि गाँवों के नामों में शस्य के नाम देखे जा सकते हैं। इनके अलावा 'बीज' और 'तोला' (चारा) सम्बन्धित मयूरभंज के बीजतोला, रसुनतोला गाँवों के नामों को देखा जा सकता है।

(ii) साग-सब्जियों के नाम पर गाँवों के नाम

शस्यों के साथ-साथ साग-सब्जियों के नाम भी गाँवों के नामों से जुड़े पाये जाते हैं। निम्नलिखित गाँवों के नामों से यह स्पष्ट है। सिंहभूम जिला का सूसनि, गिरिडीह जिला का कइनारबेड़ा, हजारीबाग जिला का मुनगाडीह (मुनगा=सौंजना) एवं मेदिनीपुर जिला का सुसनिजोथी आदि शाकों के आधार पर मिलने वाले गाँवों के नाम हैं। सब्जियों के आधार पर उड़ीसा के सारूबिल (सारू = अरबी) पियाजछेंचा, हलुदबाटा (क्योंझर), बाइगणबाड़िया, कुमड़ा-सोल, रसुनतोला (मयूरभंज), बिहार के रसुनचोपा, रसुनिया (सिंहभूम), बंगाल के कुमड़ा, आदाबना (पुरुलिया), लाउ-पाड़ा, झींगासोल आदि गाँवों के नाम उल्लेखनीय हैं।

खान-पान से सम्बन्धित गाँवों के नाम

खान-पान तथा पकावन से सम्बन्धित गाँवों के नाम निम्न प्रकार हैं। बासीभात, बासीपीठा, पाखालभातिया, कलइतुमा, चिंगड़ीपोखर, कुरकुटिया मयूरभंज), लेट (मकई से प्रस्तुत एक प्रकार का झारखण्डी पकावन), दई-घुटू (सिंहभूम), कलईकुंडा, कुरकुटसोल, दईजुड़ो (मेदिनी-पुर), घोलकुंड़ा (कुंड़ा = सत्तु) आदि।

सांस्कृतिक विशेषताएं और गांवों के नाम

भौगोलिक विशेषताओं के आधार पर गाँवों का नाम करण एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। परन्तु, सांस्कृतिक विशेषता प्रतिबिंबित होनेवाले गाँवों के नाम मिलना अपने आप में महत्वपूर्ण है। ऐसे गाँव यहाँ मौजूद हैं जिनके नाम यहाँ की सांस्कृतिक परम्परा के कई पहलुओं का उजागर करते हैं। ऐसे कुछ पहलुओं के साथ गाँवों के नामों की चर्चा नीचे की गयी है।

(i) कौमी आधार एवं गाँवों के नाम

'झारखण्ड' आदिवासियों का अभयारण्य कहलाता है। यहाँ की धरती पर विभिन्न समुदायों के लोग—संथाल, मुण्डा, उरावं, कोल (हो), कुड़मी, भूमिज, असुर, लोधा, माहली, कुम्हार, भूइंया, धोबा, आदि बास करते हैं। बिहार के असुरकोड़ा, कुम्हारटोली, डोमटोली (राँची); कुम्हारदागा (हजारीबाग), कुड़मीडीह (धनबाद), कुड़मी-चौक (संथाल परगना), कादलकुड़मी (पलामू), कोलचाकरा, माहालीमुरुप, भूइंयांडीह, संथालडीह मुचीडीह, कुम्हारदा (सिंहभूम) आदि, बंगाल केलोधासुलि, माहतोपुर, धोबाडांगा,

बेनासुलि (मेदिनीपुर),माहालीपाड़ा,महतोमारा, घुइनाडीह (घुइना = मछुआर), मांझीडीहा (पुरुलिया) आदि, उड़ीसा के तेलीबिला, पाणपोसी (पाण = बुनकर), पाकामुण्डा (मयूरभंज) आदि गाँव के नाम कौमी विशेषता के प्रतीक हैं। प्रारम्भ में किसी विशेष समुदाय के द्वारा बसाये गये गाँवों के नाम के साथ उन समुदायों के नाम जुड़ गये होंगे। कालक्रम में एक जगह से उठकर दूसरी जगह बसने के सिलसिले में आज यह देखा जाता है कि किसी एक समुदाय के नाम वाले गाँव में दूसरे समुदाय के लोग भी निवास कर रहे हैं।

(ii) भाषाओं के आधार पर गाँवों के नाम

यहाँ, जैसा कि हमने देखा कि, भिन्न-भिन्न समुदाय बास करते हैं। भिन्न-भिन्न भाषाओं में गाँवों के नाम भी देखे जा सकते हैं। जाहिर है कि हरेक समुदाय की अपनी अलग मातृभाषा होती है। निश्चय ही गाँव बसाने वाले लोग अपनी मातृभाषा में ही उसका नाम रखे होंगे। लेड़ोकोचा, तेलेनकोचा, तुनगाम, खड़रकोचा, धाँगड़ीमुता, जोजोबेड़ा, पटमदा, बांगुड़दा, सरजमदा आदि संथाली भाषा में मिलने वाले गाँवों के नाम, कुईरडीह, मेजुरनाचा, झांटोपहाड़ी, बनकेटिया, खुखरखांपि, बाघकोडीह, खांकड़ाझर, बेलडुंगरी, कुदरसाई आदि कुड़माली भाषा में मिलने वाले गाँवों के नाम, सेताहाका, टेंगरा, सिंदरीगुइयू, कोलचाकरा, बलानडिया, रूईया, सेरेंगसिया, बलजुई आदि हो भाषा के अन्तर्गत आनेवाले गाँवों के नाम, लोहारदागा अलंडा, नौरबली (नौरीपेलो) आदि कड़ुख नाम, सोनाहातु, पतड़ाहातु (पतराहातु), इचाहातु, बुरुहातु, बुंड़ू, पानसाकाम, बालालोंग, जानुमपिड़ी, एदेलडीह, टेकनेया आदि मुंडारी भाषी गाँवों के नाम हैं।

(iii) संगीत से सम्बन्ध रखनेवाले गाँवों के नाम

संगीत-नृत्य रहित आदिवासी-जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। दिनभर के कठिन परिश्रम के पश्चात् रात के शान्त-शीतल वातावरण में ये प्रकृति-संतान संगीत-नृत्य में विलीन हो जाते हैं। हर रात यहाँ संगीत मय होता है। पर्व-त्योहार के अवसर पर नृत्य-गीत-वाद्यों की मधुर ध्वनि से वातावरण चहुँओर झंकृत हो उठता है। अंग-अंग में इनका संगीत समाया हुआ है। मुंडारी कहावत "सेंगे सु सुन कजिगे. दूरान" डा० रामदयाल मुंडा के व्याख्या "हमारी चाल में नृत्य है और बोली में संगीत" इनकी संगीतात्मक-लयात्मक जीवन की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है। संगीत-नृत्य के प्रति इनका गहरा लगाव गांवों के नामों में स्पष्ट है। नृत्य के आधार पर नटुआ (पुरुलिया), वाद्यों के आधार पर केन्दरी, मादला (पुरुलिया), धुमसाई (मेदिनीपुर), छोटानागरा (अभी भी जंगल में धातु का नागाड़ा है जिसे पूजा किया जाता है), बड़नागरा, टुइलाडुङ्गरी (टुइला जैसी आकृति की विशिष्ट डुंगरी)—(सिंहभूम), नर्तकी के आधार पर नाचनीगुड़ा (मेदिनीपुर), संगीत (झूमर) विशेषज्ञ के आधार पर रसिकनगर (सिंहभूम) रसिकपुर (दुमका) आदि गांव के नाम संगीत के प्रति इनका कुदरती रुझान को प्रमाणित करता है।

(iv) त्योहारों के आधार पर गाँवों के नाम

झारखण्डी त्योहारों में 'करम' अन्यतम है। करमटांड़, करमाडीह (पुरुलिया), करमाटांड़ (धनबाद) करमटोली (राँची) गाँवों के नामों में इस त्योहार की स्मृति जड़ित है। ईंदटांड़, ईंदीपीड़ी (सिंहभूम), छातापोखर, इंदपुर आदि नाम 'ईंद' एवं 'छाता' पर्व से सम्बन्धित हैं।

(v) हाट के आधार पर गाँवों के नाम

'हाट' जनजातीय जीवन में अहम भूमिका अदा करता है। हाट व्यापार वाणिज्य का आधार स्थल है। तमाम चीजों का क्रय-विक्रय लेन-देन हाटों के माध्यम से सम्पन्न होता है। अपने संग्रहित वनोत्पाद, अनाज, पशु, फल-मूल आदि के साथ लोग दूर दराजों से साप्ताहिक हाटों में आते हैं। जरूरी चीजों के क्रय-विक्रय के साथ भिन्न-भिन्न गाँवों से आये लोगों को एक दूसरे से मिलने तथा विचार-विमर्श करने का अच्छा अवसर मिल जाता

है। हाट जाने-आने वालों का उल्लास देखते ही बनता है। निम्नलिखित गाँवों के नामों में 'हाट' शब्द के उल्लेख से इन हाटों की स्मृति चिर-स्मरणीय हो गयी है। हाटबादड़ा (मयूरभंज), हाटगम्हरिया, पोड़ाहाट (सिंहभूम), हटिया (राँची), पोड़ीहाटी (मेदिनीपुर) आदि।

(vi) धार्मिक विश्वास के आधार पर गाँवों के नाम

पुरुलिया जिला के दुआरसिनि (बलरामपुर थाना), दुआरसिनि (जयपुर थाना), सिंहभूम का दौड़ासिनि, मयूरभंज का दुआरसिनि, हजारीबाग का बलकुदरा आदि गाँवों के नाम देखे जा सकते हैं।

अनिष्टकारी शक्तियों के नाम पर मयूरभंज के डायनमारी एवं सिंहभूम के सातबहनी आदि गांवों के नाम उल्लेखनीय हैं।

गाँव को सूचित करने वाले उप-शब्दों का महत्व

अक्सर गाँवों या शहरों का नाम दो शब्दों के मेल से बनते हैं जिनमें पहला शब्द पूर्व-वर्णित विभिन्न आधारों पर खास गाँव को चिन्हित करनेवाला नामकरण या विशेषण होता है। दूसरा शब्द ग्राम या शहर के अस्तित्व को सूचित करता है। इस शब्द का अर्थ या तो गाँव या शहर होता है जैसे गांव, गांव, हातु, पल्ली साई, बासा, नगर, पुर, शहर, पट्टण आदि या उस गांव या शहर के स्थान की स्थलाकृति, भौगोलिक एवं अर्थनैतिक - सांस्कृतिक विशेषताओं को चिन्हित करनेवाला शब्द होता है : जैसे बनी, डीह, गोड़ा, टांड़, बुरु, झर, हाट आदि।

हम गाँवों के नामकरण में इन दूसरे उप-शब्दों के महत्व को स्पष्ट करने की यहाँ कोशिश करेंगे।

अधिकांश व्यवहृत ये उप-शब्द हैं : बनी, डीह, गोड़ा, बेड़ा, टांड़, डुंगरी, झर, सोल डांग, हातु, दा:, कुदर, झाड़, कचा, पहाड़, बुरु, लंग, घुटू, खाम आदि।

डीह :

'डीह' उस जमीन को कहा जाता है जिसके ऊपर गृह-निर्माण किया गया हो या किया जाने वाला हो। गाँव के नामों में डीह (उप) शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से देखने को मिलता है। बिहार के नीमडीह, तुरामडीह, नीलडीह, कीताडीह, उलीडीह, बारीडीह, खुंटाडीह, धाधकीडीह, परसुडीह, करनडीह, लालडीह, भूईयांडीह, मिर्जाडीह, भादूडीह, तिरुलडीह, गालुडीह (सिंहभूम), कुड़मीडीह, पलाशडीह, जसीडीह, भोंजुडीह, कुईरडीह (धनबाद), नवाडीह, नागेडीह, कुसुमडीह, जाराडीह, मुनगाडोह (हजारीबाग), बागोडीह, गिरिडीह, जरिडीह, नवाडीह, जारंगडीह, (गिरिडीह), पाण्डुडीह, सालगाडीह, तिलकीडीह (रांची), बरवाडीह (पलामू), उड़ीसा के बेगनाडीह, कुमड़ाडीह, पोड़ाडोह, बुरुडोह, झराडोह (मयूरभंज) तलडीह, जोलोडीह (सुन्दरगढ़)—बंगाल के बड़ुडोह, लोआडीह, नीमडीहा, मयनाडीह (मेदिनीपुर), महुआडीह, कदमडीह, संथालडीह, जामडीह, डांगरडीह (पुरुलिया) आदि गाँव के नामों से 'डीह' शब्द का व्यापकता के बारे में अन्दाज लगाया जा सकता है।

बनी :

'बनी' वन अर्थ में प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरण स्वरुप साल जंगल या वन के निकट बसाये गये गाँव को अक्सर 'सालबनी' नाम से जाना जाता है। उड़ीसा के जामबनी, असनबनी, हलुदबनी, काँटाबनी (मयूरभंज), बाँसबनी, आसनबनी (क्योंझर)—बंगाल के सालबनी, धंबनी (ध=एक प्रकार के वृक्ष), महुलबनी, सिरिसबनी (पुरुलिया), जामबनी, बाताबनी (मेदिनीपुर)—बिहार के कुड़ुचीबनी, पियालबनी, हलुदबनी, पलाशबनी (सिंहभूम) आदि नाम वाले गाँव आसानी से झारखण्ड में देखने मिल जाते हैं।

गोड़ा :

डुंगरी (पथरिला टीला) के ठीक निचली हिस्सा में स्थित ढलान भूमि को 'गोड़ा' कहा जाता है। यह फसल

के अनुपयुक्त शुष्क भूमि होता है। इसमें प्रायः बाबुई (रस्सी बनाने में लगने वाले विशेष प्रकार का घाँस), चिरु (झाड़ू बनाने के काम आने वाले एक प्रकार का घाँस) बाँस, कुसुम, ध' आदि पेड़ होते हैं। गाय, बैल भी चरते हैं। कहीं-कहीं बरसात के मौसम में बिरि (उड़द), कुरथी, तील, कोदो, रहड़ आदि बोया जाता है। नीचे दिये गये गाँवों के नामों में 'गोड़ा' शब्द का प्रयोग हम देख सकते हैं। बंगाल के कुसुमगोड़ा, (मेदिनीपुर), ध'गोड़ा, चारा-गोड़ा (पुरुलिया), ध'गोड़ा (बांकुड़ा), उड़ीसा के चिरु-गोड़ा, बुटगोड़ा, छोलागोड़ा (मयूरभंज), बिहार के काशी-गोड़ा, मेळागोड़ा, जिलिंगोड़ा, राहड़गोड़ा, सिदगोड़ा, जादूगोड़ा, बड़ड़ागोड़ा (सिंहभूम), बाँसगोड़ा, पत्थलगोड़ा, अरगोड़ा (हजारीबाग), जोनागोड़ा (धनबाद), अरगोड़ा (रांची) आदि उल्लेखनीय है।

बाइद, कानाली, बहाल :

बाइद, कानाली तथा बहाल—ये सभी शब्द खेतों से सम्बन्धित हैं। बाइद निम्नकोटी का खेत है। गोड़ा के निचले हिस्से में मेड़ देकर बाइद खेत तैयार किया जाता है। बरसाती पानी गोड़ा होते हुए बाइद जमीन में आता है एवं इसी के सहारे इस खेत में छोटे किस्म के धान जैसा कि साठी धान (60 दिन के अन्दर तैयार होनेवाला धान), झुझूर धान, आसनलेवा, भजना धान आदि (आसु धान) बोया जाता है जो अढ़ाई या तीन महीने में तैयार हो जाते हैं। आश्विन मास तक इसकी कटाई हो जाती है। इसे बाइद धान भी कहा जाता है। फसल के लिए तीन-चार अच्छी बारिश की जरूरत पड़ती है। पारबाइद, सिर्का-बाइद आदि पुरुलिया जिले में तथा चामड़ोबाइद, खड़का-बाइद आदि सिंहभूम जिले में मिलने वाले गाँवों के नाम हैं, जिसके साथ 'बाइद' शब्द को देखा जा सकता है।

ढ़लान के क्रम में बाइद के नीचे वाले खेतों को 'कानाली' खेत कहा जाता है। यह बाइद से बेहतर जमीन होता है तथा इसमें अच्छा फसल होता है। इसमें भी अच्छा फसल के लिए तीन-चार बार वर्षा की आवश्यकता पड़ती है। वर्षा का पानी काफी दिनों तक खेत में रहता है। कलमकाठी, आसनलेवा आदि कानाली धान होते हैं। मयूरभंज के शिमुलकानाली और मेदिनीपुर जिले के हलुदकानाली गाँव के नाम इस आधार पर है।

बहाल और बेड़ा :

'बहाल खेत' यहाँ के सबसे उन्नत किस्म के खेत को कहा जाता है। ये कानाली के नीचे (ढ़लान के क्रम में) समतल जमीन होता है। वर्षा का पानी गोड़ा, बाइद, कानाली होते हुए यहाँ आता है। इस खेत में पानी की कमी नहीं रहती। बरसात कम होने पर भी यहाँ फसल अच्छा होता है। पानी की सुविधा के चलते यहाँ उन्नत किस्म का धान लगाया जाता है। मानभूम में इसे बहाल तथा धालभूम तथा मयूरभंज में इसे बेड़ा जमीन भी कहा जाता है। यह साधारणतः समतल जमीन होता है। सुन्दर-गढ़ जिले का कांशबहाल, सिंहभूम जिले का किशबहाल, पुरुलिया जिले के काड़ाबहाल, धनबाद जिले का शिमला-बहाल आदि गाँवों के नामों में बहाल शब्द पाया जाता है तथा बिहार के महुलबेड़ा, जोजोबेड़ा, कालिकाबेड़ा (सिंह-भूम) रेलियाबेड़ा, बड़कीबेड़ा, कइनारबेड़ा (गिरिडीह), उड़ीसा के झारबेड़ा, दुवलाबेड़ा, कदमबेड़ा, घाघरबेड़ा, उइरमबेड़ा (मयूरभंज), नुआबेड़ा (क्योंझर), बीझारबेड़ा (सुन्दरगढ़) आदि गांवों के नामों में 'बेड़ा' का प्रयोग देखा जा सकता है।

टांड़ :

फैले हुए शुष्क मैदान को 'टांड़' कहा जाता है। सामान्यतः पशु यहाँ घास चरते हैं। टांड़ में साप्ताहिक हाट होता है। इसके अलावा खेल-कूद, मेला, पर्व-त्यौहार आदि का आयोजन भी टांड़ में किया जाता है। टांड़ शब्द मिलने वाले गाँव के नामों के अन्तर्गत बिहार के छाताटांड़, कुसमाटांड़ (रांची); महुआटांड़ (पलामू), पीरटांड़, मुनयटांड़, रंगाटांड़ (धनबाद), सालटांड़, रांगाटांड़ (सिंहभूम), घाटोटांड़ (हजारीबाग), बंगाल के कदमटांड़, छाताटांड़ (पुरुलिया), उड़ीसा का पारलटांड़ी (मयूरभंज) आदि को देखा जा सकता है।

कुदर :

नदी की बालु शय्या पर या किनारे सब्जी उगाने के लिए तैयार की गयी जगह को 'कुदर' कहा जाता है। इसके चलते लोग कुदर के आस-पास बस जाते हैं। इसी तरह कुदर शब्द ने इन गाँवों के नामों में अपना स्थान पा लिया है। बिहार के भलियाकुदर, रानीकुदर, बाघाकुदर (सिंहभूम), उड़ीसा के पाणकुदर, बाघुआकुदर, झुमकाकुदर, ओलकुदर (मयूरभंज); चकलकुदर क्योंझर), बंगाल के बेगुनकुदर (पुरुलिया) आदि इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं।

झर :

झरना के अर्थ में 'झर' शब्द का प्रयोग होता है। झर के पानी कभी नहीं सूखते। झरनों पर निर्भरशील झारखण्ड के ग्रामीणों ने आभार प्रकट करते हुए गाँव के नाम में 'झर' शब्द को जोड़ा होगा, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है। उड़ीसा के जामझर (मयूरभंज), केन्दुझर (क्योंझर), बिहार के आंधारझर (सिंहभूम), बंगाल के कीताझर, बुड़ीझर, खाँकड़ाझर (मेदिनीपुर), खाड़ झर (बांकुड़ा) आदि गाँव इस सम्भावना की ओर हमारी दृष्टि आकर्षित करते हैं।

पानी, दा :

हो, मुंडारी और संथाली भाषा में पानी को 'दाः' कहा जाता है। पानी और दाः के नाम पर कई गाँवों के नाम मिलते हैं। जाहिर है कि पानी की सुविधा के चलते बसाए गये गाँवों के नाम में इसका प्रयोग हुआ होगा। पुरनापानी (मयूरभंज), पुरनापानी (पुरुलिया); पुरनापानी (मेदिनीपुर), झींकपानी, पुरनापानी (सिंहभूम) आदि नामों के साथ 'पानी' तथा झालदा, चइड़दा, बाँगुड़दा (पुरुलिया), मुनियादा, केशरदा, सीलदा, बाबुईदा (मेदिनीपुर), पटमदा, सरजोमदाः, नारदाः, पनियादा, चिपिदा, (सिंहभूम), महुदा (धनबाद), उड़ीसा के बहलदा, हलदा, अमरदा, राहाँदा (मयूरभंज), जोजोदा (सुन्दरगढ़) आदि नामों के 'दा' (दाः) शब्द का प्रयोग देखा जा सकता है।

गाँ, हातु :

गाँ का अर्थ गाँव होता है। संथाली, हो तथा मुंडारी (कोलेरियन समूह) में 'हातु' का अर्थ गाँव होता है। गाँ शब्द को झारगाँ, नुआगाँ, बड़गाँ, सानगाँ, सिमगाँ (मयूरभंज); देवगाँ, घटगाँ (क्योंझर); देवगाँ (सिंहभूम) आदि गाँवों के नामों के अन्तर्गत तथा 'हातु' शब्द को कोचाहातु (पुरुलिया); उलीहातु, इचाहातु, सरजमहातु, बाईहातु (सिंहभूम); सोनाहातु, पतराहातु (रांची); चिरुहातु, बेड़ाहातु (मयूरभंज) आदि नामों के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

बुरु, पहाड़ :

हो, मुंडारी और संथाली में पहाड़ को 'बुरु' कहा जाता है। तालाबुरु, धारबुरु, किरिबुरु, महुलबुरु, ओहारबुरु (सिंहभूम) आदि गाँवों के नाम में 'बुरु' शब्द का इस्तेमाल हुआ है। इसी प्रकार बेलपहाड़ (सम्बलपुर), बदामपहाड़ (मयूरभंज), बेलपाहाड़ी, झांटीपाहाड़ी, बाँसपहाड़ी (बंगाल); लोटापहाड़, भेलाईपहाड़ी, गोलपहाड़ी, नरवापहाड़, तीनपहाड़ (बिहार) आदि नामों में 'पहाड़' शब्द का प्रयोग देखा जा सकता है।

भिन्न भाषा-भाषी गाँवों के नामों में अर्थगत साम्य

विभिन्न भाषाओं में पाये जाने वाले गाँवों के नामों के बारे में जानकारी पहले दी जा चुकी है। गहराई से देखा जाए तो उनमें अर्थगत साम्य नजर आता है। 'हो' भाषा का 'उलीहातु', संथाली में 'उलीडीह' और कुड़माली में 'आमडीहा' (उलो = आम) सम अर्थ विशिष्ट हैं। उसी प्रकार जोजोडीह एवं तेंतुलडीह (जोजो = तेंतुल=ईमली) में कोई भेद नहीं है। 'हो' भाषा में 'टेंगरा' और कुड़माली 'डुंगरी' (पथरिला टीला), 'बीरबाँस' एवं 'बाँसबनी' (बीर=वन) में अर्थगत समानता दिखाई देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी भाषा में गाँव के नाम क्यों न हो इनमें झारखण्ड की प्रकृति और संस्कृति की

झलक अवश्य मिलती है। अतः नामों के अर्थ में समानताएँ देखने को मिलेंगी, यह स्वाभाविक है। इस विश्लेषण से यह तथ्य हमारे सामने आ गया है। ऐसे कई गाँवों के नामों को लिया जा सकता है।

उपसंहार

विभिन्न दृष्टिकोणों से गाँवों के नामों पर विचार करने पर यह समझ में आ जाता है कि इन तमाम गाँवों के नाम यूँ ही नहीं रख दिये गये हैं। इन नामकरणों के पीछे लोगों की चिन्ताधारा, समझदारी तथा उनकी सांस्कृतिक धरातल का परिचय मिलता है।

झारखण्ड (झारखण्ड के अन्तर्गत आने वाले बिहार, बंगाल, उड़ीसा एवं मध्यप्रदेश के पूर्व-वर्णित क्षेत्र) के अन्तर्गत गाँवों के नामों में मिलने वाली समानताएँ इस प्रान्त की प्रतिष्ठित झारखण्डी संस्कृति को प्रतिबिंबित करती हैं। राजनैतिक आधार पर इन गाँवों का बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश में विभाजन होने के बावजूद इनके नाम झारखण्डी अस्मिता की गुणगान आज भी कर रहे हैं। ऐसे नाम झारखण्ड प्रान्त के बाहर मिलना मुश्किल है।

यहाँ के पठारी क्षेत्र को पार कर जैसे ही मैदानी बिहार, बंगाल, उड़ीसा एवं मध्यप्रदेश की ओर अग्रसर होंगे, गाँवों के नामों में अन्तर हमारी दृष्टि को आकर्षित करेगा। अगर हम बिहार के गांगेय समतलभूमि की ओर अग्रसर होते हैं तो—झाझा, सासाराम, मिथिला, आरा, छपरा, सहरसा, नरकटियागंज, नौबतपुर, समस्तीपुर, दानापुर, सिवान, लहरियासराय, बेगुसराय, दरभंगा, तिवारीचक, भोजपुर आदि नाम देखने को मिलेंगे जो झारखण्डी नामों से बिल्कुल अलग है। उसी प्रकार अगर उड़ीसा की समतल भूमि की ओर कदम बढ़ाएंगे तो—सोरो, जलेश्वर, बालेश्वर, रूपसा, रेमुणा, भोगसाई, जाजपुर, चारबाटिया, काटक, पाराद्वीप, चण्डीखोल, कुजंग, भूवनेश्वर, पिपली, कोणार्क, पूरी, रणपुर आदि नामों में अलग संस्कृति की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। बंगाल के समतल भूमि की ओर अग्रसर होने पर एक ही स्थिति का सामना करना पड़ता है—कोलाघाट, महीषादल, शिवपुर, लिलुआ, हावड़ा, उल्टाडांगा, बेहाला, करीमगंज, बहरमपुर, फुलिया, घुटियारसरीफ, जलपाईगुड़ी आदि नाम मिलेंगे जो झारखण्डी नामों के साथ मेल नहीं खाते।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश की मैदानी संस्कृति से भिन्न तथा इनसे घिरे राजमहल से शिमलीपाल पर्वत श्रेणी एवं सम्बलपुर से बाँकुड़ा तक के इस विशाल क्षेत्र की एक ही प्रकृति तथा संस्कृति है। गाँवों के नामों से इस सत्य को भलीभाँति हृदयंगम किया जा सकता है। हिन्दू, जैन, बौद्ध, मुस्लिम, वैष्णव, अंग्रेज यहाँ आये। औद्योगीकरण के फलस्वरूप कल-कारखानों में काम करने के उद्देश्य से विभिन्न प्रान्तों से लोग यहां आकर बस गये। फिर भी यहाँ की मौलिकता बरकरार रही। गांवों के नामों पर इनका प्रभाव नहीं के बराबर रहा। आज भी इन गांवों के नाम राजनैतिक विभाजन को झुठलाते हुए झारखण्डी संस्कृति की प्रतिमूर्ति बनकर निर्भीक रूप से विद्यमान है। □

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

1. झारखण्डेर लोक साहित्य—डा० बंकिमचन्द्र माहातो
2. श्री श्री चैतन्य चरितामृत—श्री कृष्णदास कविराज
3. Souveneir : Festivals of Chhotanagpur, 1985.

झारखण्ड आन्दोलन और महिलाओं की भूमिका

रोज केरकट्टा

'झारखण्ड अलग प्रान्त' के पहले दौर में स्त्रियों की कोई भूमिका नहीं रही है। इसका यह मतलब नहीं कि उस समय के उलगुलान से वे बिल्कुल अछूती रहीं। उस समय भी स्त्रियाँ पार्टी की सभाओं और महासभाओं में तथा जुलूसों में जाती थीं। लेकिन बौद्धिक स्तर पर उनको कोई भागीदारी नहीं थी। इसलिए झारखण्ड आंदोलन का इतिहास तैयार करते वक्त किसी भी क्षेत्र से एक भी महिला का नाम नहीं आता है, जिसने उलगुलान में सक्रिय भाग लिया या पार्टी की सक्रिय कार्यकर्त्ता रही।

वास्तविकता यह है कि उस समय झारखण्ड की सही तस्वीर ही जनता के सामने नहीं थी। वे इतना जानते थे कि "एक राज्य होगा जिसमें हमारा अधिकार होगा।" ऐसा ही बहुत ही स्थूल विचार लोगों के मन में था। किन आवश्यकताओं के तहत यह माँग है, जनता ने इस पर कभी नहीं सोचा। तत्कालीन उस स्थूल विचार धारा के समक्ष महिलाओं के लिए अलग कार्यक्रम चलाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। उस समय आंदोलन के बाद की प्राप्ति का कोई स्वरूप नहीं था, तब महिलाओं को क्या मिलता यह सोचने की तात्कालिक जरूरत नहीं थी। उस समय के सिद्धांत, संघर्ष के तरीके बड़े आदिम थे। लोगों की राजनीतिक स्थापनाएँ भिन्न थीं। उनके विस्तार में हमें जाना नहीं है। उन स्थापनाओं का ऐतिहासिक मूल्य है और यही कि पिछली भूलों को नहीं दुहराने के लिए सावधान रहना है।

महिलाओं की सामाजिक-राजनीतिक निष्क्रियता के पीछे आन्तरिक और बाह्य कारण हैं। ये कारण चिन्तन और कार्यान्वयन में गतिरोध उत्पन्न करते हैं यद्यपि अभी परिस्थितियाँ बिल्कुल भिन्न हैं। झारखण्डकी महिलाओं का सिर्फ खेतों, जंगलों और घरेलू कामों में समानता नहीं रह गई है, वे नौकरी, शिक्षा और व्यापार में भी आगे आ रही हैं। उनकी जिम्मेदारियों में वृद्धि हुई है। पुराने धंधे कई दृष्टियों से लाभ दायक नहीं सिद्ध हुए हैं। उनसे अधिक परिश्रम के बावजूद संतोषजनक आय नहीं मिली। अतः आर्थिक उपलब्धि के वास्ते इन्होंने दूसरे क्षेत्र ढूंढ़े।

आर्थिक दृष्टिकोण में परिवर्तन के साथ ही पैसे की कीमत बढ़ी। शिक्षा, कारखानों के द्वार खुले जिनमें महिलाओं ने कदम रखा। इससे समाजशास्त्रीय पुरानी धारणाओं में परिवर्तन आया। एक ओर झारखण्डी महिलाएँ अपनी स्वाभाविक सामाजिक स्वतन्त्रता के कारण आगे बढ़ी, वहीं औपनिवेशिक शक्तियों ने महिलाओं पर अत्याचार बढ़ा दिए। शोषण के नए-नए क्रूरतम (यहाँ के लिए) तरीके ढूंढ़े। बलात्कार, ठग-फुसलाकर स्त्रीयों की बिक्री, बँधुआ मजदूरनी बनाना आदि इसके उदाहरण हैं। लगभग 1950 ई० के बाद में इन धारणाओं में निरन्तर वृद्धि होती गई जिसका दूरगामी प्रभाव यह हुआ कि झारखण्डियों का विश्वास 'दिकुओं' पर से और बाद में अपनों पर से भी उठा क्यों कि वे लगातार ठगे जा रहे थे। 'दिकु' अपने स्वार्थ के लिए मीठे व्यवहार से इनका उपयोग करते और बाद में अंगुठा दिखा देते। झारखण्डी चूँकि कमजोर हैं, उन्होंने स्वयं को संकुचित किया और स्त्रियों पर पाबन्दी लगायी, संघर्ष नहीं किया। भय और पाबन्दियों में रहने के कारण स्त्रियों का मानसिक बिकास बाधित हुआ, और अपनी स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाया जाना मन्जूर किया। अब स्थिति यह है कि अपने हित के लिए भी ये महिलाएँ संगठित होने से कतराती हैं।

आधुनिक शिक्षा ने पढ़ और अपढ़ स्त्रियों के बीच दीवार खड़ा किया। पढ़ी-लिखी स्त्रियों ने अपने-आप को तो ऊँचा समझा हो, उनका ध्यान आर्थिक उपलब्धि की ओर भी गया। उन्होंने भी शोषण से बचने का उपाय संकुचित हो जाने में ही पाया। इन्होंने 'अभिजात्यपन' को भी ओढ़ा। किन्हीं भी कारणों से जो महिलाएँ इन धारणाओं से अलग रहीं उनका स्तर गिरा है, ऐसा माना गया। अतः झारखण्ड की माँग जैसे आन्दोलन की ओर इनका ध्यान नहीं गया। वास्तविकता यह है कि स्त्री-पुरुष दोनों ही वर्गों में राजनीतिक स्वतन्त्रता को सोचने समझने जैसा कोई रुझान नहीं पनपी। गरीबों का शोषण होता है—जैसा सामाजिक विकृतियों से लड़ने या मार्ग-दर्शन करने की जरूरत भी नहीं समझी गई। अतः यह वर्ग झारखण्ड आंदोलन से नहीं जुड़ सका। सांगठनिकता बेजान रही।

झारखण्ड आन्दोलन के मौजूदा दौर में स्त्रियों की समस्याएँ और जटिल हो गईं। क्यों कि आन्दोलन करने वाली किसी भी पार्टी के पास स्त्रियों का कोई कार्यक्रम नहीं है, सिर्फ 'झारखण्ड क्रान्ति दल' ही स्त्रियों को अपने कार्यक्रम में समान रूप से शामिल करता है। इससे प्रश्न उठता है, क्या अभी भी महिलाएँ जागरुक नहीं हैं? क्या राजनीतिक भागीदारी से हटकर स्त्रियों का कोई अलग कार्यक्रम नहीं चलाया जा सकता? अथवा झारखण्ड की माँग में स्त्रियों के समर्थन की जरूरत नहीं है? वस्तुतः ये सारे प्रश्न पार्टियों की ओर से आने चाहिए थे, लेकिन आज तक नहीं उठाए गए।

झारखण्ड में भी महिलाओं की संख्या पूरी आबादी की आधी है। किसी भी संघर्ष के दौरान इस आधी आबादी को यदि छोड़ दिया जाए तो कोई भी आंदोलन अपने लक्ष्य तक सही तौर पर नहीं पहुंच सकता। आजादी के लिए कांग्रेस ने हर स्तर पर—सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक आन्दोलन चलाया था। कितनी ही स्त्रियों ने उस आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और अपनी योग्यता स्थापित की। तब झारखण्ड आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी को क्यों नकारा जाता है? झारखण्ड की सामाजिक व्यवस्था में इन्हें (स्त्रियों को) इतनी स्वतन्त्रता तो है कि वे इस आन्दोलन से जुड़कर अपना अस्तित्व कायम रखें। हाँ, उन्हें अवश्य ही बाहर से आए हुए 'पनों' को निकालना होगा।

यहाँ की राजनीतिक पार्टियों में 'ग्रास रूट' (grass root) कार्यकर्त्ताओं का अभाव है। जो हैं वो भी इस ओर ध्यान नहीं देते कि बुनियाद को ही संगठित किया जाए। इस उपेक्षापूर्ण नीति के कारण महिलाओं में भी स्वच्छन्दता आ गई है और वे अपने शोषण के प्रति भी लापरवाह हो गई हैं। उन्होंने शोषण को अपनी नियति मान लिया है। शोषण की परम्परा ने उन्हें लाचार, संकुचित और स्वच्छन्द बना दिया है। सच तो यह है कि जिस आदिवासी समाज व्यवस्था की दुहाई दी जाती है वह जर्जर हो चुका है। व्यक्तिप्रधान बने इस समाज में अपनी सुविधा और आवश्यकतानुसार शक्तिशाली व्यक्ति परिवर्तन लाते गए हैं। पूरा झारखण्ड टी०वी० संस्कृति की ओर बढ़ रहा है। लगभग मामलों व्यक्तिगत स्तर पर सुलझाने की ओर प्रवृत्त हुए हैं। इसी कारण आर्थिक और राजनीतिक दलालों की संख्या बढ़ रही है। अनपढ़ स्त्रियों को राजनीतिक स्वतन्त्रता से कोई मतलब नहीं है। पढ़ी-लिखी स्त्रियों के लिए इसका सिर्फ ऐतिहासिक महत्व है। उनके लिए राजनीतिक जागरुकता और राजनीतिक स्वतन्त्रता महत्व रखते हुए भी, कदम रखने योग्य भूमि नहीं है।

जब तक महिलाओं का कोई स्पष्ट कार्यक्रम इस आन्दोलन में नहीं रखा जाता, उनका समर्थन पाना कठिन है। और महिलाओं के न जुड़ने से कोई भी आन्दोलन सम्पूर्ण नहीं होता। अतः ऐसे कार्यक्रम अवश्य रखने चाहिए जिसके माध्यम से महिलाओं में जागरुकता आए। महिलाएँ ही परिवार, समाज और राष्ट्र की बुनियाद हैं। उनकी जागरुकता उनके वंशवृक्ष को हस्तांतरित होती है। वे, जो प्रदेश की आधी जनसंख्या हैं, उन्हें आन्दोलन में उनकी भूमिका देनी होगी, तभी कार्यक्रम सफल हो सकता है। □

रपट

झारखण्डी महिला कितनी आजाद?

एन माट्टाम

'झारखंड महिला मुक्ति समिति' का दूसरा वार्षिक सम्मेलन 22-23 मई, 1988 को राँची जिले के मुर्जली गाँव में हुआ।

सम्मेलन का उद्देश्य था कि 1987 में गठित इस समिति के एक वर्ष के अनुभव एवं गतिविधियों की समीक्षा करते हुए झारखण्डी महिलाओं की विभिन्न समस्याओं के लिए कार्यक्रम बनाया जाये।

20-21 मई को झारखण्ड बंद के बावजूद झारखण्ड के विभिन्न महिला संगठनों की प्रतिनिधि महिलाओं, कई स्थानीय महिलाओं एवं झारखण्ड के बाहर के कुछ महिला संगठनों की प्रतिनिधि महिलाओं ने भाग लेकर सम्मेलन को सफल बनाया। झारखण्ड के बाहर से प्रतिनिधि भेजने वाले महिला संगठन थे: 'सहेली' (दिल्ली), 'समग्र महिला अगाड़ी' (महाराष्ट्र) और 'छत्तीसगढ़ महिला जागृति संगठन' (मध्यप्रदेश)।

सम्मेलन में चर्चित विषयों को दो भागों में बाँटा जा सकता है: एक, नारी मुक्ति की आम समस्या, तथा झारखण्ड महिला मुक्ति समिति के साथ झारखण्ड आंदोलन और आम नारी मुक्ति आन्दोलन का सम्बन्ध। यह मुख्यतः सैद्धांतिक पक्ष था जिस पर बाहर से आयी महिला प्रतिनिधियों ने काफी चर्चाएँ की, लेकिन स्थानीय ग्रामीण महिलाएँ मूक श्रोता बनी रहीं।

लेकिन जब सम्मेलन का दूसरा पक्ष, झारखण्डी महिलाओं की समस्याओं पर चर्चाएँ शुरू हुई तो ग्रामीण महिलाओं ने पूरे उत्साह से भाग लिया। डाइन प्रथा आदि महिलाओं पर अत्याचार, महिलाओं से संबंधित पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याएँ, जमीन व अन्य पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार आदि विषयों पर हुई बहस से यह बात स्पष्ट होती है कि झारखण्ड आंदोलन के आम नेताओं का दावा कि "झारखण्डी समाज में स्त्रियों एवं पुरुषों के समानता है", झारखण्डी औरतों के अनुभव के विपरीत है जैसे—आदिवासी पुरुष पारिवारिक जमीन को औरतों से परामर्श किये बिना अपनी मर्जी से बेच देते हैं या बंधक रख देते हैं। गाँव के पंचों में औरतों की कोई स्थान नहीं है। विवाह-विच्छेद के बाद पेट पालने के लिए औरतों को झारखण्ड के बाहर भागना पड़ता है। उन पर डाइन होने का आरोप लगाकर उनकी हत्या करके उनकी जमीन हड़प लेते हैं।

सम्मेलन में उपस्थित ग्रामीण महिलाओं के कहने के अनुसार, आदिवासी समाज में परम्परा यह रही है कि किसी के बेटा न रहने पर दामाद को परिवार के सदस्य जैसा रखा जा सकता है, लेकिन पारिवारिक सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता है। ऐसी दुर्दशाग्रस्त स्थिति है कि आदिवासी समाज में न तो कोई ऐसा कोई परंपरागत कानून है और न ही कोई संवैधानिक कानून जो औरतों व उनकी सन्तान को आर्थिक सुरक्षा दे सके।

जमीन के मालिकाना से सम्बन्धित समस्या पर चर्चा करते हुए झारखण्डी महिलाओं ने कहा कि आज

झारखण्डी समाज-व्यवस्था में रुपयों-पैसों पर आधारित संबन्धों का बड़े पैमाने पर प्रवेश हो रहा है, जिसके चलते पारिवारिक सम्बन्धों और जमीन के मालिकाना के सम्बन्धों में अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहे हैं। परिवार आदिवासी समाज की केन्द्रीय इकाई बनता जा रहा है, जो पहले नहीं था। पुरुषों का दबाव एवं नियंत्रण बढ़ रहा है। परंपरागत आर्थिक बुनियाद के साथ-साथ सामूहिकतावादी संस्कृति भी टूटती जा रही है। सम्मेलन में शामिल आदिवासी महिलाओं ने कहा कि ऐसा कुछ कार्यक्रम शुरू करना चाहिए जिससे जमीन पर परंपरागत सामुदायिक मालिकाना को फिर से कायम किया जाये और उस मालिकाना में औरतों को समान अधिकार रहना चाहिए।

समय की कमी के चलते इन गंभीर समस्याओं पर विस्तृत चर्चा नहीं हो पायी। चर्चाओं से बाहर के महिला संगठनों की कार्यकर्ताओं को झारखण्डी महिलाओं की विशेष समस्याओं की जानकारी मिली।

यह महसूस किया गया कि पितृसत्तात्मक उत्पीड़न से मुक्ति के नारी संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि यह संघर्ष वर्ग, राष्ट्रीय एवं जातिवादी शोषण-उत्पीड़न विरोधी संघर्ष के साथ अपने को जोड़े।

भूल सुधार

'झारखण्ड दर्शन' के दूसरे अंक में प्रो० विणापाणी महतो के लेख "छौ नाच : झारखण्ड की एक अनूठी लोक कला" में चौथे पाराग्राफ की 8 वीं और 9 वीं पंक्तियों के बदले कृपया पाठ को इस प्रकार पढ़ा जाए—

भगवान शिव 'छौ नाच' के अधिष्ठाता देवता भी हैं और मयुरभंज में 'भैरव' के रूप में, सरायकेला में 'अर्द्धनारीश्वर' तथा मानभूमि में 'शिव गाजन' के रूप में शिव की पूजा की जाती है।

छोटानागपुर-संथालपरगना में बड़े बाँधों का विकल्प—ii

वीर भारत तलवार

पिछले अंक में आपने पढ़ा कि झारखण्ड में सिंचाई की एक परम्परागत प्रणाली रही है जो बाँध और आहरों की प्रणाली थी। इस शताब्दी की शुरूआत में भारतीय सिंचाई आयोग ने इस प्रणाली पर ध्यान दिया था। पलामू में बाँधों और आहरों पर जमींदारों का नियंत्रण था, मानभूम में नियंत्रण रैयतों का था जबकि धालभूम और संथालपरगना में ग्रामीणों का सामूहिक नियंत्रण था। आयोग ने सिंचाई के सवाल पर प्रशासनिक अधिकारियों से सवाल पूछे थे। किसी ने भी बड़े बाँधों को झारखण्ड की सामाजिक-आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं कहा। आयोग ने कुछ स्थानीय प्रमुख नागरिकों से भी सुझाव माँगे थे।

आयोग के सामने जिन स्थानीय लोगों ने बयान दिए, उन्होंने छोटानागपुर में सिंचाई के विकास के लिए कई किस्म के दिलचस्प सुझाव रखे, पर किसी ने भी बड़े बाँध बनाने का सुझाव नहीं दिया। बयान देने वाले अपने-अपने क्षेत्र के प्रतिष्ठित नागरिक थे। ये लोग छोटानागपुर की स्थानीय भौगोलिक और दूसरी स्थितियों से अच्छी तरह परिचित थे और ठीक इसी कारण स्थानीय रूप से उपलब्ध पानी के इस्तेमाल के बारे में उनकी कल्पनाशीलता वास्तविकता पर आधारित थी। राँची के एक चाय बगान मालिक श्री ए० कुक ने आयोग से कहा कि पहाड़ों के बीच दर्रों या संकरे रास्तों (gorge) से निकल कर बहने वाले पानी से नीचे की घाटियों में बहुत कम खर्च से सिंचाई हो सकती है और पानी के ऐसे स्रोत हजारों जगहों पर हैं। पहाड़ के नीचे-नीचे पानी को किसी निकास-मार्ग के जरिए मोड़कर पहाड़ के दूसरी ओर भी लाया जा सकता है जहाँ पानी उपलब्ध न हो। (पृ०19, मिनट्स ऑफ एविडेंस, बंगाल आयोग) मानभूम के एक वकील श्री एस० सी० सेन ने कोयला खदानों से निकलने वाले पानी से उसके आस-पास के खेतों की सिंचाई करने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा कि खदानों का पानी बड़े जलाशयों में जमा कर देना चाहिए। अभी तक यह पानी बड़ी मात्रा में बहकर दामोदर में जाता रहा है। हर गाँव के इर्द-गिर्द खदानें हैं। कहीं-कहीं तो एक ही गाँव के पास आठ-दस खदानें हैं। हर खदान पम्प के जरिए अन्दर का पानी बड़ी मात्रा में बाहर फेंकती है जो पचासों गाँवों की जरूरत पूरा कर सकता है। सुझाव है कि इस पानी को बड़े जलाशयों में जमाकर उपयोग में लाया जा सकता है। (पृ० 97, वही)

यह कल्पनाशीलता सराहनीय है कि एक-एक स्थान में उपलब्ध पानी का ठीक उन्हीं स्थानों पर किस तरह सिंचाई के लिए उपयोग में किया जा सकता है। लेकिन पूरे छोटानागपुर में सिंचाई के लिए इनके पास कोई योजना नहीं दिखती। इस सिलसिले में जिस व्यक्ति ने ज्यादा व्यापक और वैज्ञानिक ढंग से सोचने का प्रयास किया, वह थे श्री ए० सी० डॉज। डॉज छोटानागपुर डिवीजन के कृषि विभाग के उप-निर्देशक थे। 1919 ई० में उन्होंने बम्बई में हुए भारतीय विज्ञान कांग्रेस के छठवें सम्मेलन में एक शोध-पत्र पढ़ा—छोटानागपुर में धान की खेती के बड़े हिस्से का बार-बार खराब

हो जाना (Frequent Failure of a large Proprtion of the Rice crop in Chotanagpur) इस शोध-पत्र में वर्षा की अनियमितता से धान की खेती में बार-बार आने वाले संकट का हल करने के लिए पहले से ही कायम बाँध और आहरों की प्रणाली का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए उसके वैज्ञानिक विकास और विस्तार की योजना पेश की गई थी (देखिए, एग्रीकल्चरल जर्नल ऑफ इंडिया का चौदहवां वॉल्यूम, 1920)। इस शोध का सम्बन्ध रांची जिले से था लेकिन जैसा कि खुद डॉब्स ने कहा, भौगोलिक परिस्थितियों की समानता के कारण यह पूरे छोटानागपुर पर लागू होता है।

डॉब्स का शोध

धान की खेती बिना पर्याप्त पानी के नहीं हो सकती। कुछ खास मौकों पर, अंकुर निकलने के समय, रोपनी के समय और जब धान की बालियों में दूध आने लगता है उस समय, धान के पौधों को पानी की सख्त जरूरत होती है। उस समय धान के पौधे अधिक तापक्रम को बर्दाश्त नहीं कर पाते। पानी तापक्रम को नियन्त्रित करके पौधों को शीतलता और नमी पहुँचाता है। डॉब्स ने बिल्कुल सही समझा कि राँची में (और पूरे छोटानागपुर में भी) धान की खेती खराब हो जाने का कारण वर्षा का अभाव नहीं, बल्कि वर्षा का समय पर नहीं होना है। छोटानागपुर में प्रति वर्ष कुल वर्षा उस समय भी 50 इंच के करीब होती थी, आज भी इतनी ही होती है। समस्या यह है खेती के लिए जिस समय पानी की जरूरत होती है, ठीक उसी समय अगर वर्षा न हो तो आगे-पीछे चाहे जितनी वर्षा हुई हो, खेती खराब हो जाती है। छोटानागपुर में करीब 45 इंच वर्षा पहले चार महीनों में हो जाती है। धान की खेती के लिए सितम्बर के मध्य से लेकर अक्तूबर के पहले दो सप्ताहों के अन्दर—जब धान में बालियाँ फूटती हैं—हथिया नक्षत्र की वर्षा का होना बहुत जरूरी होता है। यहाँ पहली वर्षा मई में और आखिरी नवम्बर में होती है। मुमकिन है कि मई से नवम्बर तक कुल मिलाकर 50 इंच वर्षा हो जाए। सवाल है कि कब, किस समय, कितनी वर्षा हुई? छोटानागपुर में जब-जब अकाल पड़े, उन सालों में वर्षा का रेकार्ड देखने से पता चलता है कि पर्याप्त वर्षा होने के बावजूद ठीक उस समय वर्षा नहीं हुई जब धान के लिए वह बहुत जरूरी थी। इस संकट से बचाने के लिए डॉब्स ने परम्परागत बाँध और नहर प्रणाली में वैज्ञानिक ढंग से विस्तार करने की योजना बनाई। योजना का उद्देश्य यह था कि अगर 15 सितम्बर से 15 अक्तूबर तक वर्षा न हो, तब भी धान के पौधों को सूखने से बचाया जा सके। ऐसा भूमिगत जल स्तर को कायम रख कर किया जा सकता था। डॉब्स की योजना छोटानागपुर की मिट्टी की विशेषता, भूमिगत जल के स्तर और धान के खेतों की स्थिति पर आधारित थी।

किसी स्थान पर मिट्टी की रचना दो तरीकों से हो सकती है। नदियों के द्वारा अपने साथ बहा कर लाई गई मिट्टी से, जैसे उत्तरी भारत के मैदानी इलाकों में हुआ है। दूसरा, उसी जगह की चट्टानों के घिसने से। छोटानागपुर की मिट्टी मुख्यतः यहीं की पुरानी चट्टानों के लगातार टूटते और घिसते जाने से बने कणों से मिलकर बनी है जिसकी सबसे ऊँची सतहों पर बालू मिश्रित ढेले बहुत मिलते हैं। इन ढेलों में जो मिट्टी होती है, वह तो वर्षा से लगातार घुलकर नीचे घाटियों में बहती जाती है और ऊपर वाली जमीन पर बालू बच जाता है। जब वर्षा होती है तो बालू के कण वर्षा के जल का एक भाग सोख लेते हैं और इस तरह पानी जमीन के अन्दर चला जाता है। लेकिन छोटानागपुर में यह पानी ज्यादा नीचे नहीं जाता क्योंकि नीचे ग्रेनाइट की चट्टानें हैं जिन पर पानी ठहर जाता है। इससे धान के पौधों की जड़ों को भूमिगत जल मिल जाता है। यह जल सब जगह समान रूप से पौधों को नहीं मिलता। छोटानागपुर में धान की खेती जिस जमीन पर होती है, उसे 'दोन' कहते हैं। जो दोन सबसे नीचे पड़ता है, वह दोन नं० I है। जो उसके ऊपर पड़ता है, वह दोन II है। उससे भी ऊपर दोन III। रीड के आधार पर डॉब्स ने दोन IV की श्रेणी भी रखी है। सबसे अच्छी उपज दोन I में होती है, इसके बाद

क्रमशः घटते हुए दोन II, दोन III और दोन IV में। एक भौगोलिक मान्यता के अनुसार बहुत प्राचीन काल में पड़े दबावों के फलस्वरूप छोटानागपुर की ग्रेनाइट की चट्टानें बीच में दब कर इँसुए के शक्ल की (अर्ध चन्द्राकार) हो गई हैं। इसलिए ग्रेनाइट की चट्टानों पर जो पानी जमा होता है, वह इसी आकार में होता है। इससे जो दोन इसके पेंदे वाली सतह के नजदीक पड़ता है (दोन I और कुछ हद तक दोन II), उसे तो भूमिगत जल सहज ही मिल जाता है। जो दोन दो छोरों की चढ़ान पर स्थित होते हैं (दोन III और IV), उन्हें नहीं मिलता या बहुत ही कम मिलता है। अगर वर्षा न हो तो भूमिगत जल स्तर सबसे पहले इन्हीं छोरों से दूर होता है और खेती का संकट शुरू हो जाता है।

पूरे राँची जिले में दोन I की जमीन बहुत कम है, सिर्फ 760 एकड़ (1920 के आंकड़ों के मुताबिक)। इसलिए प्रति एकड़ उत्पादन सबसे अधिक होने पर भी कुल पैदावार में इसका योगदान महत्वपूर्ण नहीं। दोन II की जमीन 283000 एकड़ है। इसमें प्रति एकड़ 19 मन धान पैदा होता है। दोन III की जमीन 489000 एकड़ है। इस जमीन में जो हिस्सा अपेक्षाकृत नीचे पड़ता है उसमें प्रति एकड़ 15 मन धान पैदा होता है और जो अपेक्षाकृत ऊपर पड़ता है, उसमें प्रति एकड़ 9 मन धान होता है। चारों किस्म की जमीन में कुल मिलाकर साढ़े 12 मिलियन मन धान पैदा होता है। अब अगर मध्य सितम्बर के बाद वर्षा न हो तो जाहिर है कि भूमिगत जल के निकट होने के कारण दोन I और II में खेती का खास नुकसान न होगा, लेकिन दोन III और IV पर बहुत बुरा असर पड़ेगा। अगर दोन IV की पूरी फसल खराब हो जाए और दोन III की आधी खराब हो जाए तो इसका मतलब होगा कि 4 मिलियन मन फसल खराब हो गई, यानी करीब एक चौथाई फसल खराब हो गई। छोटानागपुर में,जहां आम किसानों के पास अनाज का सुरक्षित भण्डार नहीं होता, वहाँ आई छोटी सी विपत्ति भी बड़ी बन जाती है। ऐसी स्थिति में दोन II की फसल आंशिक रूप से भी खराब हो जाने का मतलब अकाल पड़ना होगा।

इस समस्या के हल के लिए डाब्स ने 1917-18 में राँची फार्म में दो साल तक वर्षा की दर, उसके साथ-साथ कुँए में बढ़ते-घटते जल स्तर और पास में बने बाँध के प्रभाव से नीचे पड़ने वाले खेतों के लिए उपलब्ध भूमिगत जल-स्तर का अध्ययन किया। डॉब्स ने इस बात का पता लगा लिया कि छोटानागपुर में भूमिगत जल-स्तर बहुत धीरे-धीरे नीचेउतरता है। उसके नीचे उतरने की ठीक-ठीक रफ्तार क्या है, इसे डाब्स ने नोट कर लिया। उन्होंने यह भी नोट किया कि ऊपर कितने इंच वर्षा होने पर वह पानी भूमिगत जल के रूप में कितने दिनों तक सुरक्षित रहता है। राँची फार्म में प्रयोग कर के डॉब्स ने देखा कि 4.28 इंच वर्षा के होने से कुएँ के जल स्तर में $22\frac{1}{2}$ इंच की, यानी वर्षा की तुलना में पाँच गुना की वृद्धि हुई जबकि वर्षा के अभाव में जल-स्तर नीचे गिरने की रफ्तार बहुत धीमी रही—30 दिनों में $38\frac{1}{2}$ इंच पानी घटा, जबकि नवंबर में वर्षा बिल्कुल नहीं हुई, मानसून अक्टूबर में ही खत्म हो गया। कुँआ नीचे खेतों के बराबर था। खेतों के ऊपर बांध था। मानसून जब शुरू हुआ तो तीन-चार इंच वर्षा होने से बाँध में तीन फुट गहरा पानी जमा हो गया। आगे वर्षा बिल्कुल नहीं होने से बाँध का पानी 15 दिनों के अन्दर सूख गया। सूखकर वह पानी भूमिगत भी हुआ और नीचे के खेतों में धान के पौधों तक पहुँच गया जो गर्मी में झुलस रहे थे। 36 दिनों तक वर्षा नहीं होने से कुँए का जल स्तर यानी भूमिगत जल स्तर तीन फुट आठ इंच रह गया। अपने प्रयोग से डॉब्स इस नतीजे पर पहुँचे कि अगर ऊपर कोई बाँध बाँधा जाए तो उसका पानी बाँध में जितने दिनों तक रहता है, उससे कहीं अधिक दिनों तक वह सोखकर भूमिगत जल के रूप में रहता है। इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष के आधार पर उन्होंने दोन iii और iv की जमीनों को भूमिगत जल उपलब्ध कराने के लिए एक योजना बनाई। उनकी योजना के मुताबिक अगर शुरूआत की वर्षा से किसी ऊँची जगह पर बने बाँध में पानी जमा कर लिया जाए तो, आगे वर्षा न होने पर, सूखे मौसम में भी, भूमिगत

जल-स्तर को तीन-चार सप्ताह तक इतना ऊँचा कायम रखा जा सकता है कि मध्य सितम्बर और अक्टूबर में धान के पौधे जीवित रह सकें। ऊपर बाँध का पानी जरूर सूख जाएगा, लेकिन भूमिगत जल के रूप में वह सितम्बर-अक्टूबर में नीचे के खेतों को मिल सकेगा। उन्होंने लिखा, "राँची फार्म का अनुभव दिखाता है कि अगर कुल 20 इंच ही वर्षा हुई हो, तो भूमिगत जल-स्तर को दो महीनों तक बनाए रखने के लिए सिर्फ इतना ही जरूरी है कि ऊपर बाँध बनाकर किसी भी समय उसमें 4 इंच पानी जमा कर लिया जाए।" लेकिन इसके लिए सिर्फ एक बाँध बनाना काफी नहीं होगा। छोटे-छोटे बाँधों की—100 फुट लंबे-चौड़े और 7 फुट गहरे बाँधों की एक शृंखला बनाई जानी चाहिए ताकि ढलान में पड़ने वाले दोन iii और iv की जमीन के अन्दर भूमिगत जल-स्तर वर्षा के अभाव में भी, कम से कम एक महीने तक कायम रहे। इस तरह से हथिया नक्षत्र में वर्षा न होने से भी छोटानागपुर में धान की खेती को खराब होने से बचाया जा सकता है। डॉब्स ने बड़े व्यवहारिक ढंग से बाँध की लम्बाई-चौड़ाई, उसे बनाने का खर्च और उसके मुकाबले खेती को होने वाले लाभ का मूल्य आदि, सबका हिसाब लगाकर ब्योरा दिया है जिसे यहाँ नहीं दिया जा रहा।

डॉब्स का यह शोध महत्वपूर्ण है। इससे छोटानागपुर में सिंचाई के सवाल का हल नहीं निकलता, लेकिन कुछ हिस्सों में धान की खेती का वर्षा की अनियमिता के कारण खराब होने से बचाया जा सकता है। डॉब्स ने परम्परागत सिंचाई प्रणाली को ही अपनी योजना का आधार बनाया। इसलिए डॉब्स की योजना की सीमाएँ भी वही है जो परंपरागत सिंचाई प्रणाली की हैं।

परंपरागत सिंचाई प्रणाली की सीमाएँ

1. झारखण्ड में बाँधों और आहरों पर आधारित परम्परागत सिंचाई प्रणाली की सबसे बड़ी सीमा यह है कि इससे खेती की पैदावार को बढ़ाने में कोई मदद नहीं मिलती थी। यह मुख्यतः वर्षा की अनियमिता से फसल को खराब होने से बचाती थी, उत्पादन नहीं बढ़ाती थी।

2. ये बाँध वर्षा के पानी पर निर्भर करते थे। वर्षा न होने से बाँध सूख जाते थे।

3. इन बाँधों से आमतौर पर नहर या नालियाँ नहीं निकाली जाती थीं। इसलिए इनके सहारे साल में दो फसल लेना सम्भव नहीं था।

4. बाँधों को लगातार देखभाल और मरम्मत करते रहने की जरुरत पड़ती थी। भारी वर्षा की मार से कमजोर मिट्टी से बने बाँधों के तट अक्सर टूट जाते थे और मरम्मत नहीं होने से आगे के लिए बेकार हो जाते थे।

5. इनमें अक्सर मिट्टी जमा हो जाती थी। मिट्टी को अगर हर साल निकाला न जाए तो धीरे-धीरे मिट्टी पूरे बाँध में भर जाती थी और बाँध पानी जमा रखने की अपनी क्षमता खो बैठता था। राँची जिले में अधिकतर बाँध ठीक इसी कारण से र गए और हमेशा के लिए बेकार हो गए।

परंपरागत सिंचाई प्रणाली का पतन और उसके कारण

1901-3 में जब भारतीय सिंचाई आयोग छोटानागपुर में आया, तब इस सिंचाई प्रणाली का पतन हो रहा था। आयोग ने इसप्रणाली के पतन को अपनी रिपोर्ट में दर्ज किया: "पूरे प्रान्त (छोटागपुर) में हजारों बाँध और आहर हैं और हमने हर जगह यही पाया कि वे उपेक्षित पड़े हुए हैं। आहरों के तल मिट्टी से भर गए हैं।" (पृ॰ 172) हजारीबाग में 90% आहर मिट्टी से भर चुके थे। पलामू में आहरों की एक बड़ी संख्या बेकार हो चुकी थी। राँची में भी ज्यादातर आहर मिट्टी से भरकर बेकार हो चुके थे। मानभूम में एक गवाह ने बतलाया कि बाँध मरम्मत के अभाव में बुरी दशा में हैं। जहाँ ये बाँध अब भी थे, वहाँ उनमें

मिट्टी भरते जाने की वजह से उनकी सिंचाई क्षमता बहुत कम हो गई थी। उदाहरण के लिए पलामू में इनकी सिंचाई क्षमता घटकर सिर्फ 7.5 एकड़ तक सींचने की रह गई थी। पलामू में सरकारी रियासतों में आहर और बांधों की संख्या जरूर बढ़ी थी, लेकिन छोटानागपुर के दूसरे हिस्सों में सरकारी रियासतों के अन्दर भी इस प्रणाली का पतन हो रहा था। मिसाल के लिए हजारीबाग में सरकार की कोडरमा रियासत में 1904 तक सिर्फ 66 आहर बचे थे जिनसे कुल सिर्फ 433 एकड़ खेतों की सिंचाई हो पाती थी। जाहिर है, इन आहरों में मिट्टी भरती जा रही थी। सरकार खुद भी बांध और आहरों की मरम्मत का काम अपने हाथों में लेना नहीं चाहती थी। जो आहर या बांध बेकार हो गए थे, उनके नीचे पड़ने वाले खेत या तो उजड़ गए थे या उनमें भदई की नाम मात्र की फसल होती थी।

इस पतन के कारण क्या थे?

पतन का मूल कारण भू-स्वामित्व की सामन्ती प्रणाली और उसका लगान बन्दोबस्त था।

जमींदार बुधवचन्द्र राय ने आयोग के सामने कहा, "बाँधों के बिस्तार की राह में सबसे बड़ी रूकावट जमींदारों की गरीबी है और जबतक मौजूदा कानून बरकरार हैं, इन बाँधों में पैसा लगाने में रैयत को बहुत कम दिलचस्पी होगी। अगर उसके पास इसके लिए पैसा हो, तब भी वह नहीं लगाना चाहेगा क्योंकि छोटानागपुर के भूमि-कानूनों के मातहत रैयत को अपनी जमीन बेचने या हस्तांतरित करने का कोई हक नहीं है।" (पृ० 101, मिनट्स ऑफ एविडेंस)

सबसे बड़ी रूकावट जमींदारों की गरीबी है, बुधवचन्द्र राय का यह तर्क सही न था, जैसा कि हम आगे देखेंगे। आयोग के सामने जितनी भी गवाहियाँ आईं, सबके बयानों से आखिर में आयोग इस नतीजे पर पहुँचा कि बाँधों और आहरों से होनेवाली सिंचाई की राह में "सबसे मुख्य रुकावट जमींदारों की अदूरदर्शिता और रैयत के जोत की असुरक्षा है।" (पृ० 173, वही, भाग ii)

जमींदारों की गरीबी नहीं, बल्कि उनकी अदूरदर्शिता, जो रैयतों पर नाजायज सामन्ती दावों के जरिए ज्यादा मुनाफा कमाने के लालच से पैदा होती थी, सिंचाई के राह में मुख्य रुकावट थी। इस अदूरदर्शिता को पनपने का मौका देती थी भू-स्वामित्व प्रणाली और उसका बन्दोबस्त। आश्चर्य की बात नहीं कि झारखण्ड से सटे हुए दक्षिणी बिहार के गया जिले में भी आहरों और पाइनों की परम्परागत सिंचाई प्रणाली का पतन भी ठीक लगान बन्दोबस्त सम्बन्धी कारणों से ही हुआ, जब अदूरदर्शी जमींदारों ने उपज लगान में बेतहाशा धाँधली करनी शुरु कर दीं और उपज लगान को बदल कर नगद लगान की प्रथा कायम हुई जिसके फलस्वरुप जमींदारों को खेती के उत्पादन में और उसके लिए आवश्यक सिंचाई में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई क्योंकि उपज चाहे कुछ भी हो, लगान की बन्धी-बंधाई रकम मिलनी ही थी। (देखिए, निर्मल सेनगुप्ता का लेख 'दी इंडीजिनस इरीगेशन ऑर्गानाइजेशन इन साउथ बिहार; इण्डियन इकनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, वॉल्यूम xvii, नं० 2, 1980) छोटानागपुर में भी रैयतों को लगान नगद चुकाना पड़ता था, हालाँकि दूसरे सामन्ती दावों को उपज और सामान देकर चुकाना पड़ता था।

सिंचाई के विकास या विस्तार की राह में सबसे बड़ी रुकावट सामन्ती भू-प्रणाली थी। यह प्रणाली जमींदारी प्रथा के रुप में थी—जमींदारी चाहे सरकार की रही हो या किसी और की। रैयत को जमीन पर मालिकाना हक न था। मालिकाना हक सिर्फ जमींदार का था, रैयत उसका असामी भर था, किरायेदार था। जमींदार उसे खेत से बेदखल कर सकता था। जमींदार से पूछे बिना रैयत को अपनी जमीन पर किसी भी तरह का निर्माण कार्य या खेती के विकास का काम करने की स्वतन्त्रता न थी। अगर वह खेती की सिंचाई के लिये कोई बाँध बनाता या किसी दूसरे के द्वारा बनाए गए बाँध से सिंचाई करता तो जमींदार तुरन्त इस तर्क पर कि इससे उसकी उपज बढ़ गई है, उसका लगान बढ़ा देते। अगर रैयत सिंचाई के जरिए अपने खराब खेत को उपजाऊ बनाने की कोशिश करता, दोन (iii) को दोन (ii) में या दोन (ii) को दोन (i) में

बदलने की कोशिश करता, तो उसका लगान तुरन्त बढ़ा दिया जाता था। संथालपरगना में हालत दूसरी थी। वहाँ संघर्ष के बल पर संथालों ने कुछ ऐसे कानूनी प्रावधान हासिल कर रखे थे कि भू-स्वामी उनके विकास कार्य में दखल न दे पाते थे। पर, छोटानागपुर में जमींदार शक्तिशाली थे। यहाँ बाँध और आहर बनने का मतलब था रैयत के लगान में वृद्धि। यही असली कारण था कि रैयत बाँधों और आहरों के निर्माण में दिलचस्पी नहीं रखते थे, न इसकी ठीक देखभाल और मरम्मत करते थे। अंगरेजी राज में जहाँ भी ऐसी भू-स्वामित्व प्रणाली रही, ऐसी जमींदारी प्रथा रही, वहाँ सिंचाई या दूसरे विकास कार्य रैयत के हित में न होकर जमींदारों के हित में होते थे, या कुछ धनी किसान ही इस विकास की कीमत चुका पाते थे। लेकिन जमींदार जब दूसरे सैकड़ों तरीकों से अपनी आमदनी बढ़ा सकते थे, तो वे सिंचाई या विकास के दूसरे कामों पर अपना पैसा क्यों खर्च करते? जहाँ जमींदार बिना कोई विकास कार्य किए रैयत को कई तरह से लूट सकते थे, मनमाना लगान बढ़ा सकते थे, पुराने रैयत को किसी बहाने से बेदखल करके नए रैयत को बढ़े लगान पर या ज्यादा नजरानां लेकर खेत दे सकसे थे, वहाँ वे सिंचाई के काम पर पैसे लगाना मूर्खता ही समझते थे। इसका नतीजा यह निकला कि भारत में खेती की पैदावार में जड़ता आ गई। डेनियल थॉर्नर ने लिखा कि 1900 ई० से लेकर 1940 तक—40 वर्षों तक भारत में कृषि उत्पादन स्थिर रहा, उसमें कोई वृद्धि नहीं हुई। इस जड़ता का मूल कारण भू-स्वामित्व प्रणाली और उसका लगान बन्दोबस्त था।

सिंचाई तथा दूसरे विकास कार्यों के प्रति जो दृष्टिकोण जमींदारों का था, वही अंग्रेजी सरकार का भी था। आखिर वह भी एक जमींदार थी, सबसे बड़ा जमींदार। सरकार ने अपनी रियासतों में जहाँ भी बाँध या आहर बनाए, वहाँ लगान बढ़ा दिया। अपनी रियासत के बाहर वह कहाँ भी बाँध या आहर बनाना नहीं चाहती थी। इससे उसे क्या फायदा होता? सरकार अगर दूसरे जमींदारों की रियासतों के अन्दर सिंचाई का इन्तजाम करती तो जमींदार रैयत का लगान बढ़ा देते, बढ़ा हुआ लगान जमींदार को मिलता, सरकार को नहीं। इसलिए हम पाते हैं कि आयोग के सामने अधिकारी प्रचलित कानूनों के रहते जमींदारों के इलाकों में सिंचाई का इन्तजाम करने के पक्ष में नहीं दिखते। जन-असन्तोष से बचने के लिए अकाल के दौरान सरकार राहत कार्य चलाती थी और इसी सिलसिले में उसने कुछ जमींदारों के इलाकों में भी बाँध या आहर बनवाए। (सरकार अगर पहले से सिंचाई का इन्तजाम करती तो अकाल की नौबत न आती; जितना पैसा वह राहत के कामों में खर्च करती, उतने ही खर्च में सिंचाई का भी काम हो सकता था) लेकिन सरकार ने जहाँ भी अकाल या सूखे के दौरान ऐसे बाँध या आहर बनवाए, वहाँ बाद में उनकी देखभाल या मरम्मत करवाने में कोई दिलचस्पी नहीं ली, क्योंकि इस पर खर्च करके बदले में उसे कोई फायदा नहीं मिलता। छोटानागपुर के भूतपूर्व कमिश्नर मि० फार्बस ने सरकार को लिखा था कि उसे सिंचाई का कोई कार्यक्रम अपने हाथ में नहीं लेना चाहिए। फार्बस की रिपोर्ट पर जब आयोग ने स्लेक से उसके विचार पूछे तो स्लेक ने काफी हद तक अपनी सहमति जताई और आगे कहा, "जबतक मौजूदा कानून नहीं बदलते, कोई भी सिंचाई योजना लाभप्रद नहीं होगी। सरकारी रियासतों में सरकारी पैसा लगाकर जहाँ बाँध बनाए गए हैं, वहाँ उनके रख-रखाव में भारी कठिनाइयों का अनुभव हुआ है।" यह भारी कठिनाइयाँ यह थी कि इनकी देखभाल और मरम्मत के लिए अगर वे रैयतों का लगान बढ़ाते तो रैयत इसे मानने को तैयार नहीं होते। अपने असन्तोष का इजहार रैयत देखभाल और मरम्मत के काम से अपने को अलग रखकर करते। स्लेक ने पलामू का उदाहरण देते हुए कहा, "पलामू में 1200 बाँध हैं जिन्हें कभी भी नियमित रुप से ठीक हालत में नहीं रखा जा सका क्योंकि उन्हें ठीक हालत में रखना रैयत अपने हित में नहीं समझते।" स्लेक ने आयोग को सुझाव दिया कि अगर सरकार सचमुच सिंचाई का विकास करने के लिए बाँध बनाना चाहती है तो उसे भूमि संबंधी प्रचलित कानूनों को बदलना होगा।" अगर बाँधों का रख-रखाव रैयतों के हित में कर दिया जाए और

इसके लिए किसी भी विकास कार्य के आधार पर रैयतों के लगान में वृद्धि को गैर-कानूनी ठहरा दिया जाए तो यह एक अच्छी बात होगी। सरकार इस तरह रैयतों की सहायता कर सकती है। लेकिन जब तक कानून नहीं बदलता, ऐसा करना पैसों की फिजूलखर्ची होगी। रैयत जानते हैं कि अगर वे कोई आहर बनाएंगे तो जमींदार उस विकास कार्य के आधार पर लगान जरुर बढ़ा देगा। इसलिए आहर नहीं बनाएँगे" (पृ० 227, एपेंडिक्स)

स्लैक का विचार था कि कानूनी सुधार इस तरह होना चाहिए कि बाँध और आहरों का रख-रखाव रैयतों का हित बन जाए। आयोग ने जानना चाहा कि इनके रख-रखाव के बदले कुछ लाभ कमाया जा सकता है या नहीं ? स्लैक ने कहा कि रैयतों से कुछ कमाने के बजाय रख-रखाव का भार उन्हीं पर डालना बेहतर होगा। स्लैक ने एक नयी सूचना देते हुए कहा, "पलामू में हमलोग सरकारी रियासत में एक व्यवस्था लागू करने जा रहे हैं जिसके जरिए प्रत्येक गाँव के मुखिए को जमीन का एक छोटा टुकड़ा दिया जाएगा जिसके बदले में उसे कुछ फर्ज पूरे करने होंगे। इनमें से एक फर्ज बाँधों की निगरानी करना होगा। बेशक, मैं अभी नहीं कह सकता कि यह व्यवस्था सफल होगी या नहीं।" (पृ० 229, वही) स्लैक चाहते थे कि एकबार बाँध बनवा देने के बाद सरकार को उसपर और खर्च न करना पड़े। इसके लिए मुखिया को कुछ जमीन दे दी जाए जो उस जमीन के बदले में किसानों को जमा करके बाँध की सफाई और मरम्मत वगैरह का काम करवाता रहेगा। किसान भी इस काम को खुशी से कर लेंगे क्योंकि बाँध से उन्हें फायदा होगा और उनका लगान नहीं बढ़ाया जायगा। एक दूसरे सवाल के जबाव में स्लैक ने कहा कि इस प्रदेश में जमीन समतल करके खेत तैयार करने का काम हमेशा यहाँ के रैयत करते आए हैं; जमींदार यह काम कभी नहीं करते। इस तरह जो खेत बनता है उसे कोड़कर, सुंदवात या अरियब जमीन कहा जाता है। खेत तैयार करने वाले को यह खेत लगान की रियासती दर पर एक निश्चित समय के लिए दे दिया जाता है। यह समय अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग है। अच्छा होगा कि इस मान्यता प्राप्त सिद्धांत को रैयतों द्वारा आहर बनाने पर भी लागू किया जाए बजाय इसके कि उनपर बंगाल की व्यवस्था थोपी जाए। सारे प्रान्त की जमीन इसी तरीके से खेतों में बदलती रही है और अगर यही सुरक्षा रैयतों को आहरों के मामले में भी हो तो इसमें भी वैसे ही अच्छे नतीजे निकलेंगे। (पृ० 227, वही)

स्लैक का सुझाव कभी व्यवहार में नहीं आया। छोटानागपुर में बाँध-आहर सिंचाई प्रणाली के पतन के कारणों पर विचार करते हुए प्रभु महापात्र ने लिखा है कि पलामू और हजारीबाग में, जहाँ जमीन्दार ही बाँधों और आहरों पर नियन्त्रण रखते थे, लगान वसूली के लिए जमीन्दार अपने गाँवों को पांच साल ठीके पर ठेकेदार को सौंप देते थे। ठेकेदार का काम होता था पांच साल तक इन गांवों के किसानों से लगान वसूलना और जमीन्दार को देना। ठेकेदार को कमीशन मिलता था। लगान-वसूली की यह पद्धति ही बाँध और आहरों की देखभाल और मरम्मत की विरोधी थी क्योंकि अस्थाई ठेकेदार को उनकी मपम्मत और देखभाल में दिलचस्पी क्यों होती ? न ही ये ठेकेदार आहर बाँध बनवाने में दिलचस्पी रख सकते थे। नियम यह था कि अगर ठेकेदार किसी गांव में आहर या बांध बनवाएगा तो उसके निर्माण का आधा खर्च जमीन्दार को देना पड़ेगा। पांच साल बाद, जब ठेका समाप्त हो जाता तो पूरा गांव, आहर या बांध समेत, फिर से जमीन्दार से कब्जे में आ जाता तो वह बांध या आहर वाले गाँव में विकास काय के आधार पर किसानों का लगान 25 से 50% तक बढ़ा देता। जाहिर है कि कोई भी ठेकेदार अपने ठेके के दौरान ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहेगा जिसका लाभ खुद उसे नहीं बल्कि जमीन्दार को मिलनेवाला हो। पलामू और हजारीबाग में प्रचलित लगान वसूली की यह ठेकेदारी प्रणाली सिंचाई के विकास की राह में एक बड़ी रुकावट थी। इस सिलसिले में अपने अनुभव बतलाते हुए हजारीबाग के जिला इंजीनियर ने आयोग को लिखा,

"इस जिले में मेरे 33 वर्षों की जानकारी में मैंने कभी जमींदारों को विकास का कोई काम करते नहीं देखा।" (पृ.96, मिनट्स ऑफ एविडेन्स) इसी इन्जीनियर ने इसका कारण बताते हुए कहा कि इसके लिए पांचसाला ठीकेदारी प्रथा ही दोषी है।

बाँध और आहरों की प्रणाली के पतन का एक और कारण जमींदारों की दरिद्रता और कर्ज में उनका फँसा होना माना जाता है। बुधवचन्द्र राय ने आयोग से कहा था कि राँची जिले में बाँधों की मरम्मत की दशा बहुत बुरी है क्योंकि ज्यादातर जमींदार सम्पन्न नहीं हैं और वे बाँधों को ठीक-ठाक रखने की क्षमता नहीं रखते। "बाँधों को बिगाड़ में मुख्य बाधा जमींदारों की गरीबी है।" सरकारी अधिकारी भी जमींदारों की ऋणग्रस्तता और दरिद्रता वाला तर्क मानने दिखाई देते हैं। पलामू के सिलसिले में लायल ने कहा कि जब किसी आहर में मिट्टी भर जाती तो उसे निकालने का काम शायद ही कभी होता। इसका कारण यह है कि रैयत मरम्मत के जरूरी काम के लिए अपने जमींदार का मुँह देखते हैं, लेकिन ज्यादातर जमींदार कर्जे में इस तरह फँसे हुए होते हैं कि उनसे रैयत के किसी लाभ की उम्मीद बेकार होती है।" (पृ-107, वही)

लेकिन बाँधों की दुर्दशा के लिए जमींदारों की दरिद्रता वाले तर्क पर कुछ आश्चर्य होता है कि जब हम देखते हैं कि जमींन्दार अक्सर इन बाँधों और आहरों को अपने रैयतों की बेगार से ही बनवाते थे। पलामू और हजारीबाग, दोनों जिलों में जमींन्दार द्वारा कराए जाने वाले किसी भी निर्माण कार्य के लिए—चाहे वह व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक—बेगार की प्रथा का आय चलन था। ज्यादा संभावना इस बात की लगती है कि इन बाँधों और आहरों की मरम्मत के प्रति जमींदारों और ठेकेदारों की उदासीनता का कारण उनकी दरिद्रता उतनी नहीं जितनी तुरन्त लाभ कमाने की उनकी प्रवृत्ति रही होगी। यह वर्ग आमतौर पर तुरन्त लाभ पाने की उम्मीद में ही खर्च करता है। पलामू के एक अनुभवी सरकारी अफसर ने ठेकेदारों की प्रवृत्ति पर लिखा, "मेरे विचार से ठेकेदारों द्वारा अपवादस्वरूप अगर कभी कोई विकास कार्य हुआ तो सिर्फ तभी, जब उस कार्य से उन्हें तुरन्त किसी बड़े लाभ को पाने का मौका था।" (अप्रकाशित शोध ग्रन्थ, प्रभु महापात्र) ठेकेदार खर्च तब करते थे जब किसी धान के खेत को हड़पना होता था। ठेकेदारों ने आहर वहाँ बनवाए जहाँ ठीक नीचे की जमीन खुद उनकी अपनी थी। अगर किसी रैयत की जमीन को भी उससे लाभ पहुँच रहा हो तो समझना चाहिए कि वह जमीन बहुत जल्द ही ठेकेदार की होने वाली है। ऐसा करना आसान भी होता था क्योंकि ज्यादातर रैयत जमीन्दारों या ठेकेदारों के कर्जदार होते थे। ठेकेदार और जमीन्दार आमतौर पर रैयतों को कर्ज में फँसाए रखना चाहते थे ताकि उनसे सूद मिलता रहे और रैयत उनके शिकंजे में रहे, उनके लिए बेगारी खटता रहे। आहर और बाँध बनाकर रैयत की हालत को लाभ पहुंचाने का मतलब तो रैयत की आर्थिक हालत को सुधारना और इस तरह उसे अपने शिकंजे से निकलने लायक बनाना होता। जमीन्दार और ठेकेदार यह हर्गिज नहीं चाहते थे। इसलिए अगर वे आहरों और बाँधों की मरम्मत के प्रति आमतौर पर उदासीन रहते थे तो यह उनके तात्कालिक हितों के अनुरूप था। अन्यथा क्या कारण है कि जहाँ ठेकेदारों को 25-25, 30-30 सालों तक लगातार ठेका मिला, वहाँ भी उन्होंने आहरों और बाँधों की मरम्मत नहीं करवाई? (वही) बाँधों और आहरों के सबसे मुख्य इलाके—पलामू और हजारीबाग—में रैयत न सिर्फ कमजोर थे, बल्कि उन्हें, भू-स्वामित्व की प्रणाली के कारण, मरम्मत-कार्यों के प्रति लगाव भी नहीं हो सकता था। आयोग ने साफ महसूस किया कि अगर सरकार खुद उन आहरों और बाँधों की मरम्मत करवाती है तो उस इलाके के जमीन्दार-ठेकेदार तुरन्त रैयतों का लगान बढ़ा देंगे।

प्रभु महापात्र ने बताया है कि छोटानागपुर के दूसरे हिस्सों में भी, जैसे मानभूम में जहाँ बाँध और आहर रैयत के नियन्त्रण में रहते थे, वहाँ भी, बाँध और आहर बुरी

दशा में धँसते गए और मरम्मत के अभाव में नष्ट होते गए। मानभूम में किसान अपने खेतों में सिंचाई सुविधा लेने के लिए तबतक तैयार नहीं होते थे जब तक उनके लगान का बन्दोबस्त स्थायी तौर पर नहीं किया जाता था। मानभूम में दो तरीकों से आहर बनाए जाते थे जो दो भिन्न उद्देश्यों के लिए होते थे। एक तरह के आहर और बाँध वे थे जो घाटी के निचले हिस्सों में नए खेत तैयार करने के उद्देश्य से बनाए जाते थे। दूसरी तरह के आहर और बाँध वे थे जो घाटी के ऊपरी हिस्सों में पहले से बने खेत को सुधारने और उसकी उपज बढ़ाने के उद्देश्य से बनाए जाते थे। नए खेत पर रियायती लगान की प्रथा थी जो प्रचलित लगान से आधा होता था। (भिन्न-भिन्न जगहों पर भिन्न-भिन्न दर थी) घाटी के ऊपरी हिस्से में आहर या बाँध बाँधने का उद्देश्य दोन (iii) को सुधार कर दोन (ii) में बदलना होता था। इसके लिए लगानमें रियायत नहीं थी। इसका मतलब यह निकला कि जैसे ही खेत का सुधार होता था, उसका लगान भी बढ़ जाता था क्योंकि दोन (iii)का जितना लगान था, दोन (ii)का लगान उससे ज्यादा होता था। पलामू सेटलमेण्ट रिपोर्ट में दी गई एक तालिका से पता चलता है कि मानभूम में दोन (iii) का औसत लगान 6 आने था और दोन (ii) का लगान 10 आने। यानी दोन (ii) का लगान दोन (iii) के लगान से 70% ज्यादा था। राँची में यह 60%, पोड़ाहाट में 33%, कोडरमा की सरकारी रियासत में 57%, खड़गडीहा की सरकारी रियासत में 100%, गिरिडीह में 45% और पलामू में 68% ज्यादा होता था। खेतों में होनेवाले विकास या सुधार के आधार पर लगान में वृद्धि करने की यह प्रथा शायद बंगाल के सामन्ती इलाकों से आई थी। जाहिर है कि अगर विकास के कारण या विकास के नाम पर लगान की दर में इतनी ज्यादा वृद्धि होती है तो रैयत ऐसे विकास से जरूर बचना चाहेगा या कम से कम वह ऐसे विकास के लिए बहुत उत्साहित नहीं होगा। इस प्रथा से सिंचाई प्रणाली के विकास में एक बड़ी रूकावट आई जो आखिरकार उस प्रणाली के पतन का भी कारण बनी। एक ओर किसानों के सामने बाँध की मदद से नए खेत—भले ही कम उपजाऊ—बनाने का विकल्प था जिसमें लगान घट कर आधा हो जाता था। दूसरी ओर बाँध की मदद से पुराने खेत को सुधारने—और उपजाऊ बनाने का विकल्प था जिसमें लगान बढ़कर डेढ़ गुना हो जाता था। जाहिर है, किसानों ने पहला विकल्प चुना। यह स्थिति मजबूरी से पैदा हुई थी और अच्छी न थी। इससे खेती के रकबे का विस्तार हुआ, पर पैदावार में वृद्धि नहीं हुई। इस तरह बाँध और आहर जहाँ कृषि-उत्पादन को बढ़ाने में कुछ भूमिका अदा कर सकते थे, वहाँ भी, लगान वृद्धि की प्रथा के कारण वे ऐसी भूमिका अदा नहीं कर सके।

जहाँ तक उन इलाकों का सवाल है, जहाँ बाँध और आहर आदिवासियों या ग्रामीणों के सामूहिक जीवन और संगठन पर आधारित थे, वहाँ भी बाँधों और आहरों द्वारा सिंचाई की प्रणाली का विघटन होता गया। कारण यह था कि खुद इन ग्रामीण समुदायों का सामाजिक संगठन टूट रहा था। जब बाँध और आहरों को बनाने वाले और उनकी देखभाल करनेवाले जातीय समुदाय ही टूट और बिखर रहे थे, तो उनके बाँध और आहर कैसे न टूटते? 1906 में रीड ने धालभूम परगने का सर्वेक्षण किया था, तब 30% गाँवों में प्रधानी-व्यवस्था मौजूद थी जो बाँध और आहरों का निर्माण और उनका रख-रखाव सामूहिक रूप से करती थी। तीस साल बाद, 1938 में प्रधानी-व्यवस्था सिर्फ 10% गाँवों में रह गई। तेजी से टूट रहे आदिवासी सामाजिक संगठन के साथ-साथ उससे जुड़ी सिंचाई-प्रणाली का भी पतन होता गया।

(शेष अगले अंक में)

नोट : इस निबन्ध के लिए मैं अपने मित्र प्रभु महापात्र का आभारी हूँ जिन्होंने न सिर्फ सामग्री ढूँढने में मेरी सहायता की, बल्कि खुद अपने शोध के दौरान उपलब्ध तथ्यों का भी उपयोग करने के लिए उदारतापूर्वक अनुमति दी। □

लम्बी कहानी

कुलोदा महताइन

मनमोहन पाठक

खदान के मुहाने पर झोड़ा (बेंत की मजबूत टोकरी) उल्टा कर किसी महारानी की तरह आज सुबह फिर बैठ गई है कुलोदा महताइन। किसकी मजाल जो खदान के भीतर चला जाय। रेल की संकरी पटरियों पर जहां-तहां उल्टे सीधे टब पड़े हैं। हॉलेज इन्जिन की फिस्स-फिस्स आवाज बन्द है। खदान के पास वाले मुँह पर बड़ा सा पंखा भयानक आवाज करता हुआ बाहर की हवा अन्दर धकेल रहा है। दिन की पहली पाली शुरू होने का समय हो गया है। कोयले के छोटे-बड़े टुकड़ों से पटी काली धरती पर लोडर, ट्रामर, माइनिंग सरदार, ओवर-मैन, फीटर, पम्प खलासी, खूंटा मिस्त्री, फैन खलासी, बिजली मिस्त्री, कम्पास बाबू, हाजिरी बाबू सब इकट्ठा गोल बनाकर खड़े हो गए हैं। आगे बढ़ने की हिम्मत किसी की नहीं हो रही है।

सांपिन की तरह फुफकारती है कुलोदा—'एई, एई उधर कहां रे ? खदान नहीं चलेगा अब'—आँखें तरेर कर जब ऐसा कहती कुलोदा, आगे बढ़ते लोग ठहर कर वापस मुड़ जाते और चुपचाप खड़े हो जाते। फन काढ़े सांपिन की तरह से स्थिर और भीतर ही भीतर विष की ज्वाला से नाचती कुलोदा झोड़े पर बैठी है। सभी आंखें एकटक उसी पर केन्द्रित हैं।

पसीने से तरबतर कालिख पुते हाँफते हुए रात की पाली के सशंकित मजदूर कभी अकेले कभी दो-चार की जमात में तब खूंटे, हॉलेज रस्से, ग्रीस मोबिल पानी के फिसलन से बचते बचाते खदान की पथरीली सीढ़ियों से ऊपर उठ रहे हैं। पहली पाली के मजदूर नीचे क्यों नहीं आये अब तक यह चिन्ता किसी गड़बड़ी की आशंका और भय पैदा करती है उनमें। ऊपर आकर कुलोदा पर नजर पड़ते ही धमक जाते हैं वे और फिर भीड़ में शामिल होकर तमाशबीन बन जाते हैं।

भीड़ बढ़ती जा रही है। सैकड़ों लोगों से घिरी हुई कुलोदा का मन निश्चय की धुरी से कसकर बंधा चकर-घिन्नी की तरह तीव्र गति से नाच रहा है। सभी चुप हैं आवाज करते हुए पंखे के सिवा फिर भी कुछ हो रहा है वहां तभी तो इतनी आंखें सम्मोहित सी कुलोदा पर ही गड़ी हैं। कुलोदा को भी अहसास हो रहा है कि कुछ हो रहा है। कुछ ऐसा किया जा रहा है उसके द्वारा, कुछ सार्थक कुछ शक्ति से भरा हुआ कि कोई टस से मस नहीं हो पा रहा है।

कौन है कुलोदा ? भगतू मिस्त्री की दूसरी विधवा। महताइन नहीं। पैंतीस साल की जवान मुण्डा स्त्री। आज से पन्द्रह साल पहले भगतू के साथ ही भाग कर चली आई थी लोरी गांव में। स्वस्थ सांवला भरा हुआ शरीर। लम्बाई के अनुपात में ही मांसलता। आँखों के बीच साफ सफेद कोये की पनीली फिसलन पर बिछती चमकीली चंचल पुतलियां।

इन्हीं पुतलियों पर फिसल गया था पन्द्रह वर्ष पहले भगतू पास की सिमलडीह खदान का मैनेजर राँची में अपना नया मकान बनवा रहा था। वहीं ले गया था कुशल

भगतू मिस्त्री को अपने साथ। राँची शहर के आखिरी छोर पर बनते हुए मकान के अहाते में ही ईंटों को झोपड़ीनुमा खड़ा कर रहता था भगतू। कुलोदा उसी मिस्त्री के साथ काम करती थी। फिर ऐसा कुछ हुआ कि प्रवासी भगतू कुलोदा के सरल निर्बाध प्रेम-प्रवाह में बहता गया। काम के समय बराबर उसे निकट बनाये रखता और छुट्टी का समय प्रेमालाप में बीतने लगा। फिर मुंडा युवती कुछ भी तो नहीं देखती। देह का आकर्षण और हृदय का प्रेम ही सब कुछ होता है उसके लिए। श्रमिक भगतू में भी इसकी कमी नहीं थी। नहीं, किसी सुरक्षा और समझौते की कायल नहीं होती यह जाति। वह मुग्ध थी भगतू के हाथों के कौशल, काम के समय उसकी एकाग्रता, उसकी झिड़कियों और डांट पर और भगतू मुग्ध था उसकी देह यष्टि, उसकी छेड़-छाड़ प्रसन्नमुखी सरलता पर। शाम के वक्त गांवों में बनी कच्ची शराब ले आती कुलोदा। दोनों ही छक कर पीते। कभी गांवों में ही उतर जाते दोनों और ऊँची नीची पगडंडियों पर एक दूसरे को थामे रात गए वापस लौटते।

महीनों गुजर गए। मकान लगभग तैयार हो गया। बरसात के बादलों में से ही एक टुकड़ा भगतू के मन में भी उतर आया। उसे अपने खेतों की याद सताने लगी। याद आने लगे अपने नंग धड़ंग बच्चे और कृशकाय बीमार पत्नी। धीरे-धीरे भगतू ने अपना सब कुछ बता दिया कुलोदा को। कुलोदा सब कुछ जानकर भी विचलित नहीं हुई। वह किसी भी स्थिति में भगतू मिस्त्री के साथ रहने को तैयार थी।

आरम्भ में कुछ कठिनाई तो हुई कुलोदा को, भगतू मिस्त्री की विवाहिता को और स्वयं भगतू को भी पर समय ने सब कुछ सामान्य बना दिया। कुलोदा भगतू की ब्याहता महताइन के सारे बोझ झेल ले गई चुपचाप। उसके बच्चों, घर की सफाई लिपाई-पुताई और सबसे बढ़कर खेतों में उसने जो श्रम किया उससे तो चमकृत हो गई महताइन। धान की ऐसी फसल उसके खेतों ने कभी नहीं दी। साल भर में ही भगतू के घर की काया बदल गई। दामोदर नदी के किनारे बसे लोरी गांव का एक सम्पन्न किसान बन गया भगतू। भगतू भूल गया कि वह मिस्त्री है। अब दिन रात घर में ही रहने लगा। वनवासी कुलोदा के सान्निध्य ने उसे किसानी का महत्व समझा दिया था। अब वह खेतों में ही काम करता कुलोदा के साथ। फुर्सत के समय शराब पीता, इधर-उधर घूमता। एक दूसरे किस्म की प्रतिष्ठा पाने लगा था वह।

इस बीच घटनायें तेजी से घटित हुई। भगतू और कुलोदा के बीच की जर्जर दीवार एक ही बरसात में ढह गई। क्षय से पीड़ित रोगिणी महताइन चल बसी। महताइन के चार छोटे-छोटे बच्चे तो कुलोदा से पहले से ही घुले-मिले थे। माता के वियोग से उन्हें कोई खास फर्क न पड़ा। सबसे छोटे बच्चे को पीठ पर बांधे दिन भर कुलोदा कभी खेतों में कभी घर में सारा काम करती रही।

फिर ऐसा हुआ कि भगतू का जी कुलोदा और किसानों की अपेक्षा शराब में ही अधिक लगने लगा। अब वह प्रायः रोज ही शराब के नशे में घर आता। कुलोदा ने कई बार प्यार से टोका, झिड़की दी, बच्चों का वास्ता दिया पर भगतू पर इसका कोई असर न पड़ा।

वह कालीपूजा की रात थी। कार्तिक महीने की अमावस्या। दामोदर नदी के वीरान किनारे की बड़ी-बड़ी चट्टानों और जंगलों की तरफ से चलें तो करीब दो मील पर जो पहला गांव पड़ता है वही है लोरी गांव। उस तरफ से पहला घर है भगतू महतो का।

दामोदर और बराकर नदी के बीच के इस पठारी इलाके का सबसे बड़ा त्यौहार है काली पूजा। कुलोदा के अपने गांव में इस पूजा का प्रचलन नहीं था। पर उसने भी आज अपना घर लीप-पोत कर दूसरे घरों से अधिक सुन्दर ढंग से सजाया है। मिट्टी की सुघड़, सुन्दर दीवारों को काली, लाल और सफेद मिट्टी से रंगकर अपूर्व रूप दिया है कुलोदा ने। बरसात में धुले हुए लाल-लाल कतारबद्ध खपड़ों का करीने से सजाया

हुआ छप्पर। जहाँ दिन में धूप आकर कुछ और चमक जाती है रात में दीपक का प्रकाश कुछ और बढ़ जाता है। गोबर मिट्टी से लिपे आंगन में यदि भात छींट दें तो कोई उसे उठाकर निस्संकोच खा सकता है। महतो लोगों के गांव में इस मुंडा लड़की की स्वच्छता और सौन्दर्य बोध का जोड़ कहाँ।

चंपा का सफेद तीव्र गंधी फूल कुलोदा को बहुत पसंद था। कहीं से खोजकर अपने लम्बे काले केशों के जुड़े में सजाया था वह फूल। अभिसार से पूर्व आज की रात वह खुद भी पीकर मतवाली हो जाना चाहती थी। भगतू के घर से निकलते वक्त उसने अपनी इच्छा जाहिर कर दी थी। जिस चीज के लिए भगतू पिछले दिनों बराबर कोसा जाता रहा था उसी का संकेत पाकर वह अतिरिक्त उत्साह से भर गया था। कुलोदा ने साफ कहा था 'आज बाहर मत पीना साथ बैठकर घर में ही पियेंगे।'

लेकिन यहाँ तो होनी कुछ और थी। दिन भर मेला देखकर थके हुए बच्चों को सुलाकर कुलोदा प्रतीक्षा में बैठी थी। भगतू का कोई पता न था। ठीक आधी रात को होती है काली की पूजा। दूर गांव में ढोल, नगाड़े और घंटे भयानक स्वर से बज उठे लेकिन गांव के इस आखिरी घर पर सन्नाटा था। इसी समय कुछ घरों से रोने चिल्लाने की आवाजें उठनी शुरू हुईं। कुलोदा ने बाहर गली में निकल कर देखा कि तभी कुछ लोग भगतू को जैसे-तैसे कंधों हाथों में लादे इसी तरफ पहुँचे। पहले तो कुलोदा गुस्से से भर गई। आज वह पीकर बेकाबू, बेहोश हुआ आया है पर जैसे ही भगतू को आंगन में लिटाया गया उसकी दशा देखकर कुलोदा किसी अज्ञात भय से सिहर गई। भगतू के हाथ-पांव बिल्कुल शिथिल थे, किसी असह्य वेदना से चेहरा खिंचा हुआ, मुँह खुला और लाल-लाल आँखें ऊपर को टंगी थीं। लोग जो आये थे बगैर कुछ पूछने का मौका दिए लपकते हुए वापस चले गए। कुलोदा की समझ में कुछ नहीं आया वह अकेली कैसे क्या करे। उसने भगतू को हिलाया-डुलाया, झकझोरा फिर बाल्टी उठाकर पानी भर-भर कर उस देह पर उंडेलने लगी। पता नहीं कितने घड़े, कितनी बाल्टियाँ पानी वह उंड़ेल चुकी भगतू की देह पर। सारा आंगन पानी से भर गया। श्रम, अकेलेपन और घबराहट से हांफने लगी कुलोदा। फिर बैठ गई भगतू के पास— "एई, एई, भगतू, उठ, उठ न रे, उठ! एई, भगतू नहीं कुछ कहेंगे, उठ!" बरामदे पर जलता हुआ दिया उठाकर वह पास ले आई। गौर से देखा। भगतू के चेहरे पर जीवन का कोई लक्षण नहीं था। कुलोदा विचित्र कारुणिक स्वर में विलाप कर उठी। भगतू उसका विलाप नहीं देख रहा था, नहीं सुन रहा था। इसी बीच कुलोदा ने सुना कहीं और भी रोने नाम ले लेकर विलाप करने की आवाजें आ रही थीं। वह उठी बदहवास दौड़ती हुई गली में चली गई। चान्दू, शीबू और नागो महतो के घरों से रोने की आवाजें आ रही थीं। औरतें घेर कर खड़ी थीं। गाँव के मर्द और लड़के कुछ लोगों को बैलगाड़ी पर लादकर अस्पताल ले जाने की तैयारी में जुटे थे। इस भाग-दौड़ में कोई किसी को नहीं सुन रहा था। सभी अपने-अपने सगों के दुःख से व्यथित थे। अजीब किस्म का चिल्ल-पों मचा हुआ था। कुलोदा को पता चला जहरीली शराब पीने से कुछ लोग कलाली में ही मर गए, कुछ बेहोश लोगों की अस्पताल ले जाने की तैयारी हो रही है।

कुलोदा कहीं रुकी नहीं। लौट आई अपने घर। निश्चिंत सोते हुए छोटे-छोटे मासूम बच्चों के चेहरों को दीये के प्रकाश में एक-एक कर देखा और चुपचाप लाश के पास आकर बैठ गई। अब उसमें भय अथवा घबराहट कुछ भी नहीं था। एक अजीब खालीपन में गुम था उसका सब कुछ सोचना।

भगतू की मृत्यु के बाद लोगों ने सोचा किसी के घर बैठ जायगी कुलोदा। मुंडा, संथाल का क्या यहां तो महतो लोगों की स्त्रियां भी मरद के जीते ही दूसरा घर कर लेती हैं। लोग इसका ही इन्तजार कर रहे थे। कई तो कुलोदा का यौवन देख-देख लार टपकाते थे। कई सहानुभूति की ओट में कुलोदा पर डोरे डालने की फिराक में थे।

भगतू की सबसे बड़ी सन्तान अब 10 वर्ष की लड़की थी बाकी सब उससे दो-दो तीन-तीन साल छोटे। कुलोदा उन्हें किसी चीज की कमी का अहसास न होने देती। कुलोदा का सारा काम वैसा ही चल रहा था। बड़ी बेटी और उसके बाद का आठ साल का लड़का अब काम में उसका पूरा सहयोग करते। कुलोदा स्वयं मालकिन थी, स्वयं ही मजदूरिन। गांव के सारे महतो कुलोदा को देखते और दांतों तले उंगलियां दबाते। कुलोदा सारा काम हँसती-मुस्कुराती हुई करती। दुनिया की कोई ताकत, कोई तकलीफ और दुःख कुलोदा के मुंह से उसकी हंसी नहीं छीन सकता, नहीं छीन सकता उसके गले से मधुर स्वरों से फूटता हुआ गीत। हल जोतने के लिए गाँव के ही किसी व्यक्ति को रख लेती। धान रोपने से लेकर कटनी तक का और धान पीट-पीट कर अनाज निकालने, धान कूटने और बाकी का सब काम कुलोदा स्वयं कर लेती। भगतू का बड़ा बेटा बैलों को चराता कुलोदा सोचती वह कब बड़ा हो कि फिर उसे हल जोतने के लिए दूसरों की मदद न लेनी पड़े।

भगतू की मृत्यु के दो वर्ष निकल गये। इन दो वर्षों की सारी ऋतुएं तो काम में पता नहीं कैसे बीत जातीं पर गर्मी के महीनों में कुलोदा के दिन और रात छटपटाते बिताती। अकेले घर में बच्चों के सो जाने के बाद भी कुलोदा जगती रहती। पहाड़-सा लम्बा दिन और उमस से भरी हुई रातें। बौखलाया रहता कुलोदा का मन। तन भी नीरस बेस्वाद लगता रहता। अब तक की जिन्दगी में कुलोदा ने अपने मन की बात किसी से भी तो नहीं की। तन की बात भी सिर्फ भगतू ही जानता था कि भरी गर्मी की। एक दोपहर शंकर महतो अचानक कुलोदा के आंगन में घुस आया।

उत्तर-दक्खिन की लम्बाई में ही बसा है पूरा का पूरा छोरी गांव। बीच में रास्ता है और दोनों ओर फूस और खपरैल के छोटे-बड़े घर। कोई-कोई घर ईंट की दीवार पर खपड़े से छाया है। पूरा गांव पार करने के बाद पूरब-पच्छिम बीच की पक्की सड़क है। इसी सड़क के किनारे गांव का पहला घर है शंकर महतो का। पक्का बड़ा-सा दालान क्या पूरा घर ही पक्का है। इस घर के अन्दर कभी नहीं गयी कुलोदा लेकिन हाट-बाजार करने जब भी जाती घर पर एक नजर पड़ती ही। पक्की सड़क की तरफ मुंह किए चौड़े दरवाजों वाली कई दूकाने भी हैं इसमें। बाकी दूसरे घरों की तरह इस मकान का फाटक भी गली में ही खुलता। गली इस मकान के सामने काफी चौड़ी है। पक्की सड़क थोड़ा-सा बायें घूम जाती है यहां से। इस मकान से अक्सर एक काले रंग की कार निकलती जिसमें काला कोट पहने शंकर महतो धनबाद कचहरी आता-जाता। शंकर महतो की बड़ी जोत है और भी कई तरह के कारबार है उसके! बड़े दालान में हमेशा लोग चलते-फिरते नजर आते! यों सामान-वामान कभी कुछ घटने पर भगतू की बड़ी लड़की कुसपी ही लाती नहीं तो हाट से ही सब कुछ खरीद लेती कुलोदा। कभी-कभी बहुत सवेरे शंकर महतो खेतों की तरफ निकलता तो कुलोदा से आमना-सामना हो जाता या कभी हाट जाते या लौटते धूप या वर्षा से गोद के बच्चे को बचाने-सुस्ताने के लिए कुलोदा भी दालान के सामने वाले पेड़ का आश्रय ले लेती। कुलोदा ने कभी भगतू को शंकर के घर आते-जाते नहीं देखा पर भगतू बड़े गर्व से बतलाया करता था शंकर उसका भाई है। भगतू के पिता और शंकर के पिता एक माँ के जाये थे। शंकर पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बन गया। उसने सड़क के पास वाली जमीन पर अपना बड़ा-सा मकान बनवा लिया। जब वह पढ़-लिखकर लौटा तो दूसरा ही आदमी था। गांव के लोगों से अब एक ऊंचाई पर दूरी बनाकर बात करता। यहां तक कि अपने पिता, भाई सबों को वह नीचा समझता। अपने गांव के लोग तो कभी-कभार पर दूर-दराज गांवों से लोग शंकर महतो के पास अपनी समस्यायें लेकर आते। उनके हाथ में कई बार पुराने गोल-गोल मुड़े हुए कागज और कमर की गांठ में मुड़े-तुड़े नोट हुआ करते। कभी-कभी कई एक की संख्या में लोग आते और शंकर महतो को अपने साथ ले जाते। पूरे इलाके के महतो लोग का नेता था

वह। एक धूर्त चमक से उसकी आंखें सदा चमकती होतीं। पर कुलोदा को इस चमक की पहचान नहीं थी।

अब कभी कभार आमना-सामना होने पर शंकर कुलोदा को टोक दिया करता। कभी फसल के बारे में कभी बच्चों के बारे में पूछ दिया करता। कुलोदा भी हंसकर जवाब देती। देवर-भौजाई का रिश्ता था। धीरे-धीरे हंसी ठट्ठे भी होने लगे और गर्मी की एक दोपहर शंकर महतो कुलोदा के आंगन में घुस आया।

कुलोदा के घर शंकर महतो का आना जाना बढ़ गया। अब समय-असमय का भी ख्याल न रहा। गाँव का बच्चा-बच्चा इन दोनों के सम्बन्धों से वाकिफ हो गया। शंकर महतो और कुलोदा दोनों ही इन चर्चाओं की परवाह नहीं करते पर दोनों के कारण अलग-अलग थे। शंकर महतो को जहाँ एक सामन्त की तरह कुलोदा जैसी वस्तु के स्वामित्व का गर्व था वहीं कुलोदा को एक नया संगी पाकर सुख। वह कहीं से भी अपने-आपको शंकर की लौंड़ी नहीं समझती। कचहरी से लौटते हुये शंकर महतो कभी उसके और बच्चों के लिए खाने-पीने या शृंगार की कोई वस्तु लाता कुलोदा उसे प्रेम का उपहार समझ कर रख लेती।

शंकर महतो के प्रेम में कुलोदा पागल नहीं हो गई। भगतू के बच्चों से उसका प्रेम नहीं घटा। खेतों में काम करने, घर की सफाई-पुताई में कोई कमी न आई। कुलोदा किसी भी बात के लिए शंकर पर निर्भर न हुई, बल्कि उसकी उसकी रूचि और भी अधिक धान उगाने, शाक-सब्जी पैदा कर उसे हाट-बाजार में बेचने की ओर होने लगी।

धान की कटाई, दवाई तक जाड़ा भी बीत चला। कुलोदा ने सोचा, बहाल धान के बाद वाले खेतों में इस वर्ष वह सब्जियाँ उगायेगी। पर उसके पटवन के लिए पहले पानी का इन्तजाम जरूरी है। तो खेत में ही क्यों न एक कुआं कटवा लिया जाय। इस इलाके में पानी बहुत गहराई में जाकर मिलता है लेकिन कुलोदा के लिए यह चुनौती भी बड़ी नहीं थी।

मजदूरों के साथ कुलोदा अपने बच्चों समेत कुआं काटने के काम में मजदूर की तरह जुटी रही। करीब तीस फुट बाद मटमैली परतों के बाद काली-काली नरम-चट्टानें निकलने लगीं। पानी निकलने का नाम ही नहीं ले रहा था। नीचे था सिर्फ कोयला। कोयले से इस इलाके का कोई भी आदमी अपरित नहीं। आस ही पास तीन-तीन चार-चार मील की दूरी पर कोलियरियाँ हैं। ज्यादातर लोगों के घरों में रसोई भी कोयले पर ही होती। जाते हुये मजदूर कोयले के टुकड़े घर लेते गए। सारे गाँव में बात फैल गई कुलोदा के खेत वाले कुँए से कोयला निकल रहा है।

गर्मियों में वकील शंकर महतो सुबह की कचहरी होने की वजह से दोपहर बाद धनबाद से लौट आता। इधर जब से कुलोदा कुँए की खुदाई में लगी है शंकर दोपहर अपने ही घर बिताता पर कोयले की बात सुनते ही सीधा इधर ही चला आया। गौर से देखा—हाँ, कोयला ही था। कटे हुए कोयले की ढेर पर धूप पड़ रही थी। कोयला काँच की तरह चमक रहा था पर कोयले से ज्यादा चमक इस वक्त शंकर महतो के चेहरे पर थी। आते ही शंकर महतो ने मालिकाना अन्दाज में मजदूरों को ऊपर उठ आने को कहा। सबों को इकट्ठा कर रहस्यमय ढंग से बोला—'कोयले की बात किसी से मत कहना।'

"पर सभी लोग तो जानते हैं बाबू। कितने लोग तो आज के दिन से घर ले जा रहे हैं और चूल्हे में जलाते हैं।"—जा हो, और नहीं कहना। गाँव के बाहर लोगों को जानने मत देना। अभी काम बन्द करो। पीछे हम बोलेंगे तब काटना। चलो कुलोदा हम लोग भी घर चलें।

बात कुलोदा की समझ में भी कुछ नहीं आयी पर इतना उसे अवश्य लगा कि वकील बाबू निश्चय ही कोई गहरी बात कह रहा है। धूप और गर्मी का वकील बाबू पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ रहा था। पसीने-पसीने हो रहा था पर चाल में चुस्ती थी। तीक्ष्ण बुद्धि के धूर्त

वकील का दिमाग योजनायें बना रहा था और प्रसन्न हो रहा था। कुलोदा भी उसके पीछे-पीछे अपने बच्चों समेत लौटी आ रही थी। मजदूर पहले ही बिखर गए थे।

कुलोदा के बरामदे में आकर बिना पैंट शर्ट की परवाह किये जमीन पर ही बैठ गया। कुलोदा के पहुँचते ही बोला—"कूलोदा भौजो, तुमसे अब ई कुंआ नहीं कटेगा। अब हमको लगना होगा—" और मुस्कुराया।

पता नहीं कुलोदा शरमा गई। फिर कहा—"ऐसा क्या बोलते हो ओकिल बाबू। तुम ओकिल। बड़ा लोक। कुइयां कटोगे?"

—"हाँ भौजी काटेंगे। दिन को नहीं रात को।"

कुलोदा फिर हंसने लगी। जोर से हँसने लगी। आंचल मुँह में डालकर—"सुनो। ओकिल बाबू रात को भगवा पिन्ह के गैंता ले कइयां में घुसेगा और माटी काटेगा"—बच्चे की तरह कुलोदा बोलती और हँसती। बच्चे भी जहाँ तहाँ खड़े अपनी माँ का हँसना देख रहे थे। उसे सोच-सोच कर बच्चे और भी आनन्द ले रहे थे। नंगे बदन भगवा पहनकर वकील बाबू कुँए में घुस रहा है। खट्-खट् गैंता चला रहा है। झोड़े में मिट्टी-पत्थर बोझ रहा है। हाबिश ऊपर के मजदूर रस्सी के सहारे झोड़ा ऊपर खींच रहे हैं। भगवा का छोर झोड़े में फंस गया। ओकिल बाबू लंगटा। एई एई दूर और बच्चे हंस रहे हैं। उनकी कल्पना को सूत्र हाथ लग गया। वे हँस रहे हैं! उनकी कल्पना चितकबरे पंख लगाकर उड़ रही है। फट् फट् फट् फट् कबूतर के उड़ते हुए पंखों की तरह उनकी हँसी कीआवाज।

शंकर महतो झेंप गया। थोड़ी देर चुप रहा फिर चतुराई से बोला—'हँसने की बात नहीं है कुलादा भौजी। देखो तुम्हारे कुएँ से निकलने लगा कोयला। पानी है बहुत नीचे। बहुत पैसा लगेगा। बहुत मेहनत। तुमसे नहीं होगा। लेकिन हम जुगाड़ लगाते हैं। जितना कोयला निकलेगा सब हटा देना होगा। उसके लिए हम उपाय करते हैं। तुम चुपचाप रहो। पानी निकल जाने से खेत में बहुत उपज होगी।'

पर कुलोदा के चेहरे से हँसी की छाप अब तक न मिटी। उसने कहा—'आओ भाई। जो तुम्हारी मरजी। हमसे पानी से मतलब। तुम्हीं काटो। रात को चाहे दिन को।"

अब अँधेरा होते ही हाथ में गैंता बेलचा लिए पन्द्रह-बीस मजदूर कुलोदा की गली से कुएँ की ओर चले जाते फिर रात को ही दो ट्रक उस ओर जातीं और भोर होने से पहले वापस लौटतीं। ट्रकों की हेड लाइट की चमक और घर्र घर्र की आवाज से कुलोदा नींद में चौंकती रहती। धीरे-धीरे एक आशंका से उसका जी बैठने लगता। आज-कल शंकर महतो भूलकर भी उसके घर नहीं झांकता। रात को तो एक बार इस रास्ते जरूर पार होता है। किसी रोज जब वह जाता होगा कुलोदा उसे रोक कर बात करेगी। कई बार तो कुलोदा ने उसे जाते हुए देखा भी है पर शंकर के चेहरे पर एक अनजानापन और जल्दबाजी देखकर उसे टोकते नहीं बना। यह सब देखते हुए कुलोदा की रगों में एक भय समाता जा रहा है। लगभग महीना भर हो गया। रोज पन्द्रह-बीस मजदूर लग रहे हैं। दो-दो तीन-तीन ट्रक कोयला उठकर जा रहा है। अब तक तो गहराई सौ फीट से ज्यादा हो गई होगी। क्या अभी तक पानी नहीं निकला। अगर उसकी किस्मत में पानी नहीं है तो न निकले। ना बाबा अब वह सब्जी उगाने का विचार छोड़ देगी।

उमस से भरी हुई गर्मी की रात थी। सोच और अज्ञात भय से कुलोदा घबड़ा रही थी। बड़ी लड़की को घर का ख्याल रखने की ताकीद कर कुलोदा अकेले ही कुएँ के पास चली गई। गाँव के सारे लोगों के खेत जब खतम हो जाते तब कुलोदा के खेत वहीं से शुरू होते। पास ही शंकर महतो के खेत थे।

कुलोदा ने देखा गाँव के बाद यानी ठीक उसके घर के पीछे मेड़ों को काटकर रास्ता बना दिया गया है। ट्रकों के चलने से धानखेत पहियों के निशान के नीचे समतल हो गए हैं और उसके खेत में दूर से ही कोयले का बड़ा टीला दीख रहा है। रास्ते पर भी जहाँ-तहाँ कोयले के

टुकड़े ट्रक से झड़कर बिखरे पड़े हैं। कुएँ की परिधि बड़ी हो गई है और ढिबरी लालटेन लिए मजदूर आ-जा रहे हैं। यह क्या अब झोड़े को रस्से के सहारे नहीं खींचना पड़ता, कच्ची पथरीली सीढ़ियों पर मजदूर सिर पर भरा हुआ झोड़ा लिए खटाखट उठते, ट्रकों में डालकर फिर फुर्ती से वापस लौट जाते। कुलोदा ने नजदीक जाकर नीचे झांका, घुप्प अँधेरा। ढिबरी लिए हुए मजदूर कुएँ में जाकर न जाने कहाँ अदृश्य हो जाते। फिर रहस्यमय ढंग से प्रकाश दीखने लगता। एक हाथ में ढिबरी टाँगे सिर के झोड़े का दूसरे हाथ से पकड़े मजदूर कुएँ में प्रकट होते, सीढ़ियाँ चढ़ते और ट्रकों में कोयला बोझकर उसी रास्ते वापस उतर जाते। इतने लोग थे पर सबके चेहरे पर चुप्पी पुती थी। सबको जल्दबाजी थी। रांची में मकान बनाने के काम में मजदूरी करते हुए कुलोदा को कभी रात हो जाती। कभी रात की पाली में भी काम होता लेकिन तब क्या गहमा-गहमी होती। प्रकाश का पूरा इन्तजाम किया जाता। मजदूर भी आपस में हँसी मजाक करते हुए काम करते होते। भगत् तो कभी उसके चेहरे पर सीमेंट के छींटे मार देता लेकिन यहाँ तो सन्नाटा और अंधेरा पसरकर फैला है रहस्य में घुला हुआ।

कुलोदा देख कर काँप गई। अपना खेतो भी उसे अपना जैसा न लगे। कोयले की ढेर के पास ही कटे हुए मेड़ पर बैठ गई कुलोदा।

यहाँ से एक डेढ़ मील आगे उत्तर की तरह बहती है 'दामोदर'। कछु खेतों के बाद पलाश, ढेले के पेड़ों का जंगल है। बड़ी-बड़ी चट्टानों और पुटस वनतुलसी की झाड़ियों का सिलसिला है फिर गहराई में जाकर बहती है दामोदर। दामोदर को ओर मुँह किये बैठी है कुलोदा। रात के इस अँधेरे में उधर देखते हुए भय होता है पर कुलोदा इस वक्त एक दूसरे ही भय और दुःख से ग्रस्त है। कुलोदा के दिमाग में आज बीते वर्षों के कुछ भयानक दृश्य बड़ी तेजी से आ रहे हैं, किसी बाढ़ की तरह। अभी उसे अपने सामने न खेत दिख रहा है न पलाश वन, न चट्टानें न पुटस की घनी झाड़ियाँ। सामने सिर्फ फैला हुआ मैदान है। पीली-पीली धूल का गुबार उड़ रहा है। बड़े-बड़े ट्रक डम्पर, डोजर मिट्टी काटने, जमीन को बराबर करने में लगे हैं। ऐसी ही उमस भरी गर्मी थी। कुलोदा तब कुसुमी भी से छोटी उमर की रही होगी। कुलोदा अपनी माँ और बाप के साथ सटी-सटी दुबकी हुई अपने खेतों को रौंदा जाता हुआ अचम्भित देख रही थी। गाँव के गाँव खाली करा दिये गये थे। लोग दूर-दूर झोपड़ियां डालकर किसी तरह दिन काट रहे थे। बहुत से लोग बहंगी पर अपनी गृहस्थी का सामान लादे दल के दल बैलों, भेड़-बकरियों, मुर्गियों को हहराते अपने नाते-रिश्तेदारों के घर चले जा रहे थे। कुछ जो जहाँ-तहाँ झोपड़ियाँ डालकर टोलियों में थे इन्हीं ट्रकों में मजदूरी करने को विवश हो गए थे। कुछ गुस्से से भरे हुए लेकिन कुछ कर सकने में अक्षम सिर्फ देख रहे थे। जाने कहाँ-कहाँ से अजीब-अजीब शक्ल का के आदमी और औजार उनके खेतों, झोपड़ियों, बाग-बगीचों को रौंद रहे थे।

छोटी उमर में ही विस्थापन का यह दर्द कुलोदा के लहू में समा गया था। मां का साड़ी में नंगे बदन दुबकी खड़ी किच्ची, आँसू और धूल से सनी हुई अपनी ही आँखें, अपना ही चेहरा, अपनी ही तस्वीर इस अंधेरी रात में दामोदर के तट से एक-डेढ़ मील दूर खेतों में अकेली खड़ी साकार दीख रही थी कुलोदा को। कुलोदा इस वक्त इस तस्वीर को अपने अंक में लेना चाहती है। आंसू और धूल से पुते चेहरे को अपने आंचल से पोछ देना चाहती है।

बाप के लाख समझाने पर भी कुलोदा की माँ उस जगह से हिली नहीं थी। कुलोदा का बाप फिर भीड़ में कहीं खो गया था। कहाँ चला गया था उन्हे नहीं मालूम। कई दिनों बाद कुलोदा को लिये-दिये उसकी माँ इटिया से दूर रांची चली आई थी। मिट्टी का अनाज से भरा एक घड़ा, कुछ केथरा-केथरी एक लुगा, कुलोदा के हाथों में रबर के फीते वाले दो छोटे-छोटे पैंट कुल यही था उनकी गृहस्थी का सामान।

उन जैसे और भी बहुत से लोग, बच्चे, मर्द और औरतें रांची आ गए थे। इसे बस्ती ही कह लीजिए। पेड़ों के नीचे जैसी-तैसी झोपड़ी डालकर रहते हुए कुलोदा के गांव, आस-पास के गांवों के लोग ही थे यहाँ।

कभी-कभार उन जैसे ही लोग झंडे, भाला, तीर-धनुष, गंड़ासा लिए इस बस्ती में आते। सारे लोगों को इकट्ठा कर जुलूस की शक्ल में रांची सदर कचहरी ले जाते। कुलोदा का हाथ पकड़े, उसकी माँ भी इस भीड़ में शामिल, धूप गर्मी से परेशान बेहाल नारे लगाती पैदल चलती होती।

यह था विकास। देश का विकास। सोवियत रूस की मदद से हटिया में लोहे का बहुत बड़ा कारखाना लगाया जा रहा था। भारत एक बारगी रूस बन जायगा। सारे लोग अचानक सुखी हो जायेंगे। जादू का कारखाना बन रहा था देश के इस पठारी भाग में। जंगली आदिवासियों को उजाड़कर उन्हें देश के विकास की मुख्य धारा में शामिल करने का तरीका। उन्हें सभ्य बनाने की प्रकिया। इस प्रकिया में इतना ही नहीं था। रात-बिरात कुलोदा की इस नयी बस्ती में अचानक शोर-शराबा, हल्ला होने लगता। कुछ उनकी ही जाति, कुछ बाहरी लोग किसी घर में घुस आते। छीन-झपट, गाली-गलौज से भर जाता वातावरण। जुए, शराब और व्यभिचार का अड्डा थी यह नयी बस्ती। अचानक नींद में चौंक जाती कुलोदा तब उसकी माँ उसे अपनी छाती से सटाकर जोर से भींच लेती।

कुलोदा खुली आँखों से एकटक निर्जन खेत में अकेली खड़ी उस बच्ची को देख रही है जिसका चेहरा धूल, आँसू, किच्ची नेटा से भरा हुआ है। कुलोदा हाथ फैलाकर उस बच्ची को पास बुलाती है—

—"आ, आ, नुनी हमर गोदीईं बइस'

पर लड़की चुपचाप देख रही टुकुर-टुकुर।

'आ, आ, नुनी····'—अरे कुलोदा के मुँह से शब्द निकल रहे हैं महतो लोगों की बोली के शब्द, पर उस बच्ची का इस भाषा से कोई सरोकार नहीं। वह तो सिर्फ मुन्डारी जानती है। लो, कुलोदा अब अपनी मातृभाषा तक भूल गई। अब वह इन महतो लोगों की भाषा में ही सोचती है। कुलोदा अपने इस बदलाव पर चौंक गई।

फिर झटके से उसका ध्यान टूटा। इस सन्नाटे में जंगलों और नदी की ओर मुंह किये वह क्या-क्या ऊल-जलूल सोचती हुई कहाँ की कहाँ निकल गई। ऐसा तो कुछ हुआ नहीं है अभी। वह तो यहाँ बैठी शंकर महतो का इन्तजार कर रही है। वह आये तो कुलोदा साफ-साफ बोल देगी कि अब उसे कुएँ की कोई जरूरत नहीं है। नहीं चाहिए अब उसे पानी। वह कुआँ कटाना बन्द कर दे। ट्रक-ब्रक देख कर उसे भय लगता है। बस जैसी है वैसी ही बनी रहेगी। व्यवस्थित होकर पहलू बदलकर बैठ गई कुलोदा।

अंधेरे में कुछ लोगों की बातचीत का स्वर पास आता जा रहा है। एक तो पैंट-शर्ट पहने शंकर महतो है और दूसरा उस जैसा ही कोई और हिन्दी में बात कर रहे हैं। कुछ लेन-देन की बात हो रही है। हाथ फैला-फैला कर उसके खेतों की ओर इशारा कर रहे हैं वे फिर किसी मजदूर से ढिबरी लेकर उतर पड़ते हैं दोनों सीढ़ियों से कुएँ में।

कुलोदा खड़ी हो गई। कुएं से पास आकर झांककर देखा फिर अंधेरे में ही धड़ाधड़ सीढ़ियाँ उतरने लगी। सुरंग ही तो है। सुरंग में रोशनी दिखी उसे और कुलोदा ने शंकर के पास खड़े उस अजनबी को पहचान लिया। घृणा से भर गई कुलोदा। यही है भगतू का हत्यारा। जहरीली शराब का ठेकेदार। वह यहाँ क्या कर रहा है? शंकर महतो से क्या खुसुर-पुसुर कर रहा है? शंकर महतो तो इसका दुश्मन है जहरीली शराब से गाँव के जब पाँच-पाँच आदमी भगतू के साथ ही मर गए थे तो शंकर महतो ने इसका ठेका बन्द करवा दिया था। लोगों के सामने इसकी कितनी फजीहत की थी। पुलिस से पकड़वाया था इसे। गांव के लोगों के साथ कुलोदा भी

थी नालिश करने थाने में इसके खिलाफ। वहीं देखा था इसे। अब वह यहाँ क्या कर रहा है ?

कुलोदा रुकी नहीं। कुलोदा के चेहरे पर जैसे ही ढिबरी का प्रकाश पड़ा शंकर महतो उसे देखकर घबरा गया जैसे चोरी करते पकड़ा गया हो। उसी घबराहट में बोला "....तू भौजी !' पर कुलोदा का चेहरा तमतमा रहा था—

"यह तुमने क्या किया ओकिल बाबू। मैं पहले नहीं समझी। हमारा ही दोष। अब तुमसे कुइयां कटाना नहीं होगा। मेरा सारा खेत नुकसान कर दिया। अब छोड़ो। हमें पानी की जरूरत नहीं।" फिर कोयला काटने वालों की तरफ मुखातिब हुई—"ईई ! जाओ तुम सब और काटना नहीं होगा। जाओ अपने घर। भागो !"

शंकर महतो ने भी कुलोदा का ऐसा तेवर देखकर इस समय काम बन्द करा देना ही उचित समझा। यों भी ट्रक भर गई थी। उसने भी मजदूरों से ऊपर उठ आने और चले जाने को कहा।

'—ये हत्यारा हमारी जमीन पर क्या कर रहा है। इसकी हिम्मत कैसे हुई हमारी जमीन पर लात रखने की। जो भाग'—कहती हुई कुलोदा ने झपट कर कोयले का एक बड़ा सा टूकड़ा उठा लिया। ठेकेदार ने एक नजर शंकर महतो को देखा। आंखों ही आंखों में बातें हुईं। ठेकेदार खिसकता हुआ सीढ़ीयां चढ़कर ट्रक पर सवार हुआ। ट्रक घर्र-घर्र करती मजदूरों और ठेकेदार को लिए-दिए चल दी।

एक दिन इसी प्रकार शंकर महतो ने मजदूरों को भगाया था और आज कुलोदा की बारी थी। कुलोदा अब भी लौट चली अपने घर एक मालकिन की तरह। अपराधी की तरह पीछे-पीछे हाथ में लालटेन लिए शंकर महतो। रास्ते में शंकर महतो जब भी बात शुरू करने की कोशिश करता, कुलोदा झटक देती—'नहीं, तुमको अब कुछ करना, कहना नहीं होगा बस' और तेज.तेज कदमों से चलने लगती लेकिन शंकर इतनी आसानी से स्थिति को बिगड़ने नही दे सकता। अब वह चापलूसी पर उतर आया—

"देखो कुलोदा, तुम्हारी खातिर हमने अपने घर में तकरार किया, तुम्हारी खातिर कोर्ट कचहरी का हर्जा किया, दुनिया ने हमारे ऊपर ऊंगली उठाई, तब भी तुमको नहीं छोड़ा और आज तुम हमसे बात को भी तैयार नहीं। हमसे गलती हुई है, लेकिन तुमको भी इतना गुस्सा नहीं होना चाहिए।"

कुलोदा का घर आ गया—"जाओ ओकिल बाबू अपने घर। हमारे लिए बदनामी उठाने की जरूरत अब नहीं। दोष तो मेरा था जो मैं तुम्हारे सामने लंगटी उघार हुई। उस समय नहीं जानती थी मैं क्या कर रही हूँ।"

पर चतुर वकील इतनी जल्दी हार मानने वाला कहाँ। वह भी कुलोदा के ही घर में घुस गया। बड़ी-बड़ी आरजू-मिन्नत करता रहा, समझाता रहा, अंत में उसने प्रस्ताव रखा—"आज से तुमको कुछ नहीं करना होगा। तुम्हारे पूरे परिवार को मैं देखूँगा। तुम अपने घर में रानी की तरह रहो, तुम्हारा खेत-खलिहान सब हमारे जिम्मे। कोई माई का लाल तुम्हारी ओर आँखें उठाकर देख नहीं सकेगा।"

शंकर महतो की बातों का कुलोदा पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा था। जिस शंकर के लिए दिन दोपहर वह कभी बाट जोहती होती उसके अब जल्दी से जल्दी चले जाने की कामना कर रही थी। शंकर महतो भी कुलोदा के चेहरे पर उगते हुए वितृष्णा के भावों को समझ रहा था। वह उठ खड़ा हुआ पर बड़े आधिकारिक अपनेपन से बोलता गया—

"—तुम अब फिकिर मत करो भौजी। सब ठीक हो जायेगा। अब हम चलते हैं। तुम हमारे कहे हुए पर विचार करो। कल हम आयेंगे।"

विचार क्या करेगी कुलोदा। वह तो जबरदस्ती गले पड़ रहा है। कुलोदा ने आधी रात को इस बेला में शंकर के चले जाने पर राहत की एक लम्बी सांस खींची।

गाँव-जवार भले ही कहे : मानने को शंकर महतो भी मान ले पर कुलोदा शंकर महतो की रखैल नहीं थी। वह किसी भी तरह किसी पर आश्रित नहीं थी। शंकर महतो

को अपनी देह समर्पित करने के पीछे कुलोदा के अपने कारण थे। देह के अलावा और कुछ भी नहीं दिया था कुलोदा ने शंकर महतो को। अब तो वह भी नहीं पा सकता वह।

शंकर महतो भी जान गया था, कुलोदा इतनी सरलता से मानने वाली नहीं। वह एक ही जिद्दी है। कहने को तो कह आया था शंकर उसकी देखभाल करेगा वह पर अपने अधिकार की सीमा वह खूब जानता था। दूसरे-तीसरे-चौथे-पांचवे दिन भी वह साहस नहीं जुटा पाया कुलोदा के घर जाने का। कुलोदा भी कहीं नहीं निकली, घर में ही मन मारे बैठी रही।

इस बीच वह नन्दलाल को भले ही जाकर खूब खरी-खोटी सुना आई। नन्दलाल उसी के गाँव का बल्कि पड़ोसी ही था। कुआं काटने का काम जब से शुरू हुआ था तभी से वह लगातार काम कर रहा था पर उससे इतना भी नहीं हुआ कि कुलादा को कूएं के कोलियरी बन जाने की बात बतला देता। गालियां खाने के बाद आज बताया कि शंकर महतो कोयले से रोज हजारों रुपये कमा रहा था कि कई बार तो नन्दलाल के सामने ही शंकर ने ठेकेदार से रुपये लिए हैं। फिर नन्दलाल ही तो हिसाब रखता था कितने झोड़े कोयले ट्रक में लादे गए। नन्दलाल ने आज बताया लगभग बीस हजार रुपये का कोयला रोज बेचता था शंकर महतो। अब तक लाखों कमा चुका होगा।

इस अवैध खनन की रोज की हजारों रुपये की कमाई के अचानक बन्द हो जाने से वकील शंकर महतो ही चिन्तित नहीं था बल्कि उसका सीधा असर ठेकेदार और पास के थानेदार पर भी पड़ रहा था। ये लोग कोई दूसरा उपाय सोच ही रहे थे कि इस तिकड़ी से ऊपर जिले के अधिकारियों को किसी प्रकार खबर लग गई कि लोरी गाँव में खेत के कूएं से कोयला निकल रहा है। एक रात अचानक खान विभाग के अधिकारियों के साथ जिले के ऊंचे अधिकारी कुएं पर आ धमके। पूछ-ताछ में गाँव का कोई आदमी कुछ न बोला। जांच के लिए कोयले का नमूना ले जाया गया और कुएं पर पहरा बैठा दिया गया। तीसरे ही चौथे दिन कई ट्रकों पर बोरिंग मशीन और सर्वे का सामान लिए खान विभाग का एक पूरा दल खेतों में तावू गाड़कर बैठ गया।

तब से आज तक गांव के उत्तर तरफ के खेतों में किसी की फसल नहीं हुई। अलबत्ता शंकर महतो के दालान और अहाते में लोगों की आमद-रफ्त बढ़ गई। शंकर महतो बड़ा वकील, बड़ा नेता ही नहीं लोरी कोलियरी का सबसे बड़ा ठेकेदार है। गाँव के उत्तर जिन लोगों के खेत है वे तो हर बात के लिए शंकर महतो का मुंह निहार रहे हैं। खेतों के लिए सरकार की ओर से मुआवजा मिलेगा साथ ही दो एकड़ से अधिक जमीन के मालिक के परिवार के एक सदस्य को नौकरी। गाँव में एक दूसरी ही किस्म की चहल-पहल शुरू हो गई है। घर का एक-एक सदस्य एक दूसरे से लड़ रहा है। गैर मजरूआ और चारागाह की सम्मिलित जमीन की बन्दोबस्ती शंकर महतो ने कब और कैसे अपने अथवा अपने परिवार के नाम करा ली। किसी को नहीं मालूम। कहाँ-कहाँ से पुराने जमींदारों के कागजातों में से बन्दोबस्ती का हुक्मनामा और रसीदें बनवा लाया। इतना ही नहीं, शंकर महतो ने तो दावा किया है कि भगतू के खेतों का मुआवजा सीधे उसी को मिलना चाहिये। भगतू महतो का असली वारिस वह है। कुलोदा तो महताइन नहीं; एक मुंडा आदिवासी औरत है जिसे उसका भाई अपनी बीमार पत्नी और बच्चों की देखभाल करने के लिए लाया था। दासी का हक भला उसके मालिक की जमीन पर कैसे हो सकता है?

दावे की खबर कुलोदा को भी मिली। वह सन्न रह गई। सांवली कुलादा इस सफेद झूठ को किसी भी तरह पचा नहीं पाई। कौन होता है शंकर कुलोदा को अपने पति की सम्पत्ति से वंचित करने वाला? कौन होता है शंकर भगतू के बच्चों से उनके मुंह का निवाला छीनने वाला? कुलोदा ने तो उससे कभी कुछ नहीं लिया। वह तो सिर्फ देती ही आई है अब तक। नहीं यह अधिकार तो भगतू को भी नहीं बनता था। वह इस गांव में भगतू की इच्छा से आई जरूर थी, वह इस घर में भगतू और महनाइन की इच्छा से रहती जरूर थी पर कुछ देकर ही। लिया तो कुछ भी नहीं। शंकर के साथ अपने पिछले सम्बन्ध को लेकर

पश्चताप का हल्का-सा धुंआ जो उस रोज खेत के कुएं पर उसके मन में उठा था तब से वही घना होता आया अब तक। उसी वक्त झटक दिया था उसने शंकर को अपनी जिन्दगी से परे। कानून क्या बोलेगा कुलोदा नहीं जानती। गाँव क्या बोलता है वह चुपचाप सुनती जाती है उत्तर नहीं देती। जाचती हुई कुलोदा को सब कुछ पराया-पराया जैसा लगता। पर तत्काल ही उसकी आँखों के सामने अपने घर के नंग-धड़ंग बच्चे खड़े हो जाते। अपनी ओर टुकुर-टुकुर तकती हुई उनकी निर्दोष भोली आँखें उसे विचलित कर देतीं।

अपना काला कोट, फाइलें और किताबें बगल में रखे पिछली सीट पर फैलकर ऊँघता बैठा हुआ शंकर महतो गाँव की सीमा आते ही चौकन्ना हो जाता। कचहरी बन्द होने के बाद करीब एक घण्टा लगता धनबाद से लोरी तक। इसी बीच वह पिछली सीट पर बैठे-बैठे ऊँघ लेता। इस वक्त जब वह घर लौटता कितने ही लोग उसके इन्तजार में बैठे, घूमते नजर आते। आजकल तो एक प्रकार से भर्ती का दफ्तर ही खुला था उसके अहाते में। उसका सिर घमण्ड से कुछ तन जाता। सांझ के छुटपुटे में कार की हेडलाइट पेड़ के नीचे खड़ी कुलोदा के चेहरे पर चमकी तो शंकर महतो खुश हो गया। बाहर ही गाड़ी रुकवाकर ड्राइवर को अहाते में ले जाने का संकेत करते हुए स्वयं चलकर कुलोदा के पास पहुँचा। शंकर खुश था कि उसकी चाल सफल हुई। आखिर कुलोदा उसके सामने झुक ही गई। अब खेत-जमीन का मुआवजा भी उसका और कुलोदा भी उसकी। वह जानता था कुलोदा उसके घर के अन्दर नहीं जायेगी बल्कि उसका अनुमान भी ठीक यही था कि इसी पेड़ के नीचे कचहरी जाते या लौटते मिलेगी उस पर वह कुछ बोले इसके पहले ही कुलोदा शुरू हो गई—'क्या ओकिल बाबू! हम महताइन नहीं, मुण्डा दासी और तुम हमारे मालिक! तो ले!' और टिके हुए डण्डे का सधा हुआ सीधा वार वकील के ललाट पर ठीक आँखों के ऊपर पड़ा। शंकर दर्द से तिलमिला गया। उसने हाथ से चोट को दबाया। खुन की धार फव्वारे की तरह बहने लगी। वह वापस मुड़ा लेकिन कुलोदा का वार जारी था। हाथ-पीठ पाँव पर वार करती हुई कुलोदा शंकर के पीछे चिल्लाती हुई दौड़ रही थी। अहाते में घुसा तो दालान में बैठे लोग अचानक यह सब देखकर वकील को घेर कर खड़े हो गये। कुलोदा वापस लौट गई। शंकर ने हाथ से इशारा किया पीछा कोई नहीं करेगा। जख्म गहरा था, कई टाँके पड़े। राजनीति में माहिर शंकर महतो सबों से यही कहता रहा कोई किसी बाहरी आदमी से इस घटना का जिक्र नहीं करे।

जमीन का दावा अपनी जगह बरकरार है। कुलोदा कहीं भागी नहीं। इस सफेद झुठ के खिलाफ अब भी तन-कर खड़ी है। जहाँ-तहाँ मजदूरी करके अपने यानी भगत् के बच्चों का पेट भरती है। तारीख पर कचहरी जाती है, कोलियारी के आफिस का चक्कर लगाती है और क्रोध जब सीमा पार कर जाता है कुलोदा ऐसे ही झोड़ा उल्टा कर खदान के मुहाने पर बैठ जाती है।

कुलोदा के सामने आने की हिम्मत शंकर फिर जुटा नहीं पाया यों, कोलियारी का एक छत्र नेता वही है इसी-लिये कोलियारी का मैनेजमेंट भी कुलोदा के इस प्रकार खदान के मुहाने पर झोड़ा उल्टा कर बैठ जाने और कोलि-यरी के काम में व्यवधान पैदा करने से रोकने के लिए शंकर महतो पर दबाव डालती है। हर बार शंकर महतो छिटक जाता है और पुलिस आकर उसे हटाती है।

आज अभी तक पुलिस नहीं आई। घृणा, क्रोध और प्रतिहिंसा की फुंकारती हुई लपटें वापस समाने लगी उसमें। धुरी पर अदृश्य गति से गोल-गोल घूमता हुआ उसका मन थक कर चूर होने लगा। वह अकेली हो जाना चाहती है। वह लोट-पोट होना चाहती है इस काली, उजड़ी बेडौल धरती पर। वह इस मरी हुई धरती को अपनी छाती से सटाकर एक माँ की तरह करुण क्रन्दन करना चाहती है।

युकलिप्टस से खतरा

सुन्दरलाल बहुगुणा

[श्री सुन्दरलाल बहुगुणा उत्तर प्रदेश के उत्तराखण्ड क्षेत्र के 'चिपको' (पेड़ का साथ चिपक जाना) आन्दोलन के एक मुख्य नेता हैं। इस पहाड़ी क्षेत्र में वन अधिकारियों की सांठ-गांठ से ठेकेदारों द्वारा हो रही अन्धाधुन्ध वन-कटाई को रोकने के लिए क्षेत्र की जनता ने इस अनोखा आन्दोलन छेड़ा था। पेड़ों को बचाने के अलावा पर्यावरण के लिए घातक युकलिप्टस आदि पेड़ों के वनरोपन के विरोध में भी यहां संघर्ष जारी है।]

इन दिनों युकलिप्टस (सफेदा) की प्रशस्ति में लेख और टिप्पणियाँ बहुधा छपती रहती हैं। शीघ्र बढ़ने और अधिकाधिक लकड़ी देने के गुणों के कारण यह बड़े पैमाने पर वनीकरण के लिए सबसे उपयुक्त वृक्ष करार दिया गया है। किसानों को प्रायः सलाह दी जाती है कि वे अपने खेत की मेड़ पर इसे उगायें, जिससे ईंधन के मामले में आत्मनिर्भर हो सकें। उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र में पुराने मिश्रित वनों को काटकर और नाहन (हिमाचल प्रदेश) में तो 66,820 उगते साल-वृक्षों को काटकर इसे रोपा गया है। हरियाणा ने सड़कों के दो किनारों पर इसकी घनी कतारें लगाकर उनका शृंगार किया है। गुजरात में इसकी खेती का प्रयोग एक उत्साही किसान ने किया है।

युकलिप्टस मूलतः आस्ट्रेलिया का पेड़ है और भारत में वह सबसे पहले 1843 में अंग्रेजों द्वारा नीलगिरि में उटी नगर की ईंधन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लगाया गया था। यहाँ से यह मैसूर राज्य में और सन् 1960 के बाद देश के अन्य भागों में फैला। उत्तर प्रदेश में इसका बड़े पैमाने पर रोपण सन् 1962 के बाद शुरु हुआ। अब इसके पेड़ कटने लगे हैं और इसका उपयोग कागज बनाने के कच्चे माल के रूप में होने लगा है। एक बार काटे हुए पेड़ों पर पुनः कल्ले फूट आते हैं और इस प्रकार दश-दश वर्ष के अन्तर से इसकी चार फसलें ली जा सकती हैं।

अगस्त 1975 में नैनीताल की तराई के क्षेत्रों में वनाधिकारियों के साथ पदयात्रा करते हुए युकलिप्टस के सम्बन्ध में मुझे यह चौंकाने वाला तथ्य जानने को मिला कि जहाँ जहाँ युकलिप्टस का रोपण किया गया, कुछ समय के बाद वहां के हैण्ड-पम्पों से पानी आना कम हो गया और अन्त में वे सूख ही गये। कुओं की भी जल-सतह चली गयी। ऋषिकेश के आस-पास के किसानों ने भी यह बताया कि इससे भूमि की नमी समाप्त हो गयी और इसके नीचे उष्णता के कारण अन्य कोई झाड़ी व घास भी नहीं उग पाती।

मैंने ये बातें देहरादून वन-अनुसंधान संस्थान के अधिकारियों के समक्ष रखीं और उन्होंने वचन दिया था कि वे युकलिप्टस के जल-स्तर, मिट्टी की उर्वरता और कृषि पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करेंगे। इस महत्वपूर्ण विषय पर अभी तक भारत के किसी वैज्ञानिक संस्थान से तो किसी अध्ययन की रिपोर्ट प्राप्त नहीं हुई है। परन्तु महात्मा गांधी के नये तालीम के सेवाग्राम के प्रयोग में वर्षों तक कार्यरत रहने के पश्चात अब नीलगिरि में रहने वाली कुमारी मार्जरी साइक्स ने नीलगिरि के अनुभव मेजें हैं, जो उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं :—

1. यह विश्व के सर्वाधिक जल पीने वाले लालची पेड़ों में से तो एक है ही, यदि सबसे लालची नहीं।

2. पूछताछ करने पर आस्ट्रेलियाई मित्रों ने बताया है कि इसलिए वे उसका उपयोग दलदली भूमि को सुखाने के लिये करते हैं। यदि कोई जल स्रोत सूख जाता है तो वे उसके आस-पास के युकलिप्टस के पेड़ों को काट देते हैं। उसके पश्चात प्रायः स्रोत से पानी फिर निकल आता है।

3. ऊपर जो कुछ कहा गया है, इसका अनुभव मुझे स्वयं नीलगिरि के प्राकृतिक स्रोतों और कुओं के संबंध में हुआ है। पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में उन जल-धारण क्षेत्रों में, जो पहले घनी घासों से आच्छादित थे, बड़े पैमाने पर युकलिप्टस लगाया, जिसके फलस्वरूप इस बीच पानी की कमी निरन्तर बढ़ती गयी।

4. इस संबंध में मैं दूसरा उदाहरण 'फारेस्ट फार्मिंग' के लेखक डगलोस और जार्ट का दूंगा। उनके अनुसार युकलिप्टस को बहुत बड़ी मात्रा में पानी चाहिए। युकलिप्टस का एक पेड़ एक दिन में 80 गेलन तक पानी खींचकर बाहर फेंक सकता है। इस्रायल में दलदली भूमि के सुधार के लिए बड़े पैमाने पर युकलिप्टस लगाया जाता है। इसलिए ऐसे क्षेत्रों में जहाँ भूमिगत जल की मात्रा कम हो, युकलिप्टस नहीं लगाना चाहिए, नहीं तो कुओं और स्रोतों के सूखने का खतरा पैदा हो जाता है।

बम्बई की इकालोजी की शोधकर्त्री कालापेसी के अनुसार तराई क्षेत्र में बड़े पैमाने पर युकलिप्टस लगाने के फलस्वरूप वहाँ का जलवायु शुष्क हो गया है। पहले मैदानों में चलने वाली लू को तराई की नमी सोख लेती थी। परन्तु नमी के अभाव में ये गरम हवाएं घाटियों से सीधे पहाड़ों में दूर हिमानियों तक पहुँचने लगी हैं, फलतः पिंडारी ग्लेशियर तेजी से पीछे हट रहा है, पहाड़ों की सामान्य घाटियों में ही मसूरी और नैनीताल में भी तापमान बढ़ने लगा है।

वन्य जन्तुओं और पक्षियों पर तो इसका प्रभाव पड़ा ही है। इसके नीचे किसी प्रकार की झाड़ी न होने के कारण वन्य जन्तुओं को आश्रय नहीं मिलता। स्वयं इसके समर्थकों के शब्दों में, "युकलिप्टस के पेड़ों का छत हल्का और पतला होने के कारण इस पर पक्षी घोंसला नहीं बनाते और बसेरा भी कम करते हैं।"

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर इस पेड़ के सम्बन्ध में छानबीन होनी आवश्यक है। भारत कृषि प्रधान देश है। हमारी मुख्य समस्या है कृषि पैदावार को स्थायी रूप से बढ़ाने के लिए मिट्टी की उर्वरता को बढ़ाना तथा जल संसाधनों—मुख्यतः भूमिगत जल की सुरक्षा। वैज्ञानिकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि एकल खेती (मोनोकल्चर), चाहे वह अन्न की हो चाहे वृक्षों की, धरतों को नंगा बनाती है। इसलिए वनशास्त्र में सारे विश्व के गुरु जर्मनी ने शंकुधारी औद्योगिक प्रजातियों के वनों के बीच अब चौड़ी पत्ती वाले वृक्ष लगाकर मिश्रित वनों के रोपण की नीति अपनायी है।

मैं इस सम्बन्ध में विश्वविख्यात वन-विशेषज्ञ वृक्ष मानव डा० रिचर्ड सन्त बार्बेकर की पिछले वर्ष में हुई भारत-यात्रा के संस्मरण दुहराना चाहता हूँ। देहरादून और ऋषिकेश के बीच सड़क के दोनों ओर गेहूं और गन्ने के हरे-भरे खेतों के किनारे युकलिप्टस के पेड़ देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ। जब उन्हें यह जानकारी दी गयी कि पूरे तराई भाबर क्षेत्र में चौड़ी पत्ती वाले प्राकृतिक वनों का स्थान अब युकलिप्टस ने ले लिया है, तो उन्होंने कहा, "यह मूर्खता है, धरती को लूटने का षड़यन्त्र है। रेगिस्तान और दलदल जैसी निकम्मी भूमि के लिए युकलिप्टस ठीक है। परन्तु भारत में आपके पास फल और लकड़ी देने वाले अमरुद, आम, इमली और बांस, साल तथा शीशम जैसे उत्तम स्थायी वृक्ष हैं। फिर विदेशों से लाया गया युकलिप्टस क्यों? यदि कोई पेड़ काटना चाहिए तो वह युकलिप्टस है; केवल काटना ही नहीं, उसे जड़ से उखाड़ना चाहिए, जिससे फिर कल्ले फूट न सकें। नहीं तो कुछ वर्षों में धरती की सारी शक्ति खींचकर उसे नंगा कर देगा।" ❑

व न

उड़ीसा में 15,000 वर्ग कि० मी० जंगल खतम

उड़ीसा रिमोट सेन्सिंग एप्लिकेशन सेंटर (आर. एस. ए.सी.) के अनुसार उड़ीसा के कुल भू-भाग का वनाच्छादित क्षेत्र घटते-घटते सिर्फ 15% पर आ पहुँचा है, जबकि राष्ट्रीय औसत 22·3% है। 1981 से 1986 तक की अवधि में उड़ीसा के 13 जिलों में 15,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर जंगलों के खतम हो जाने का अनुमान है।

असल में आजादी के बाद उड़ीसा में सरकार द्वारा चालू किये गये बाँध, बिजली परियोजनाएँ, सड़क निर्माण, खदान आदि कार्यक्रमों से बड़े पैमाने पर वन-विनाश शुरू हुआ। ब्यूरो ऑफ स्टेटिस्टिक्स एण्ड इकॉनोमिक पब्लिकेशन के अनुसार राज्य के कुल भू-भाग का 38·5% कृषि क्षेत्र है और 48·7% वन क्षेत्र है लेकिन वास्तव में वन क्षेत्र के लगभग 80% हिस्से को कृषि योग्य घोषित कर दिया गया है और सरकारी ठेकेदार इस सरकारी घोषणा का लाभ उठाते हुए मुनाफा के लिए अन्धाधुन्ध जंगलों का सफाया कर रहे हैं।

वन-विनाश की इस प्रक्रिया से आदिवासी-बहुल जिले—कालाहांडी, कोरापुट और बलांगीर—सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। जैसे—कालाहांडी जिले में, जहाँ झुम खेती की जाती है, ठेकेदारों द्वारा पेड़ों की व्यापक कटाई और वनाधिकारियों की मिलीभगत से वन काटने के पट्टे दिये जाने से लगभग 5,055 हेक्टेयर जंगल बरबाद हो चुका है। दस साल पहले कालाहांडी 3850 वर्गमील वन-क्षेत्र वाले जिले के रूप में जाना जाता था, जहाँ सबसे मंहगे सागवान, साल, शीशम और चन्दन के पेड़ साधारणतया उपलब्ध रहते थे, लेकिन आज उसी क्षेत्र में थोआमाल, रामपुर और लंजीगढ़ के इलाकों में चन्दन के पेड़ों का नामोनिशान नहीं मिलता।

पर्यावरण विशेषज्ञों के अनुसार जंगलों के विनाश से पर्यावरण पर घातक आक्रमण हो रहा है। भू-संरक्षण वैज्ञानिक श्री के० एल० पूजारी के शोधकार्य के अनुसार पिछले 86 वर्षों के दौरान किये गये अनुसन्धान यह स्पष्ट करते हैं कि इस दौरान वर्षा की मात्रा घटते-घटते आज करीब शून्य पर आ गयी है।

57 वर्ष पहले उड़ीसा के सभी 13 जिलों में अच्छी और समानांतर वर्षा होती थी। 1900-'57 के बीच मात्र 9% सूखा पड़ता था, लेकिन 1958-'71 के बीच उड़ीसा में सूखा-क्षेत्र बढ़कर 30% हो गया और अगले दशक (1971-'81) में यह प्रतिशत बढ़कर 50% हो गया।

ध्यान देने लायक बात है कि पूजारी जी के शोध-कार्य के अनुसार वर्षा की कमी के साथ-साथ बाढ़ की विनाश-लीला भी बढ़ी है क्योंकि नालों जैसे प्राकृतिक स्रोतों में पानी बहने की क्षमता घट गयी है, वर्षा की बौछारों को रोकने वाला वनाच्छादन समाप्त हो चुका है, प्राकृतिक संरक्षण समाप्त होते जा रहे हैं तथा नदीतलों पर कीचड़ और गाद जमकर जलधारा में रूकावट डाल रहे हैं।

श्री पूजारी की भविष्यवाणी है कि आने वाले वर्षों में बारिश और भी घटेगी और एक ही वर्ष में सूखा और बाढ़ समान रूप से प्रकट होंगे। पर्यावरण इतना संकटग्रस्त हो गया है कि उड़ीसा का बलांगीर जिला शीघ्र ही रेगिस्तान बनने वाला है।

साभार: नागेश राव, एक्सप्रेस न्यूज सर्विस,
भुवनेश्वर, जून 7, '88
अनुवाद: श्याम 'राज'

मजदूर संघर्ष के नये मुद्दे : भ्रष्टाचार, सूदखोरी, और संगठन के नये रूप और उनकी समस्यायें

श्रीहर्ष कान्हारे

चक्रधरपुर से गुजरती हुई दक्षिण-पूर्वी रेलवे की रेल-लाइन झारखण्ड के जंगलों एवं देहाती इलाकों का सीना फाड़कर बिछायी गयी थी। भारत के सबसे पुराने रेलवे स्टेशनों में से एक इस स्टेशन के चारों ओर गरीबी और अशिक्षा के अंधकार डूबे हुए विशाल झारखण्डी जन-समुदाय ने कठिनतम मेहनत से जिंदगी झेलते हुए बार-बार शोषण और दमन के खिलाफ संघर्ष का रास्ता अपनाया है। एक समय इस देहाती क्षेत्र की जनता ने बिरसा मुंडा के नेतृत्व में अंग्रेज सरकार के खिलाफ लड़ाई की थी। 1977 से इसी जनता ने 'वनों के आरक्षण' के नाम पर हड़पी गयी अपने पूर्वजों की जमीनों को वापस पाने के लिए वर्षों संघर्ष चलाये। फिर भी यह बात उल्लेखनीय है कि इतना करीब रहते हुए भी चक्रधरपुर के रेल तथा अन्य मजदूरों और गाँवों की मेहनतकश जनता के बीच सम्पर्क नहीं के बराबर है।

चक्रधरपुर में दक्षिण-पूर्वी रेलवे का प्रमंडलीय मुख्यालय है और यह शहर मुख्यतः रेल की ही देन है। यहाँ के 5000 रेल मजदूरों की मेहनत से रेल का चक्का घूमता है (और ग्रामीणों द्वारा दिये गये चक्रधरपुर के 'चक्का' नाम को सार्थक बनाता है) लेकिन विडम्बना यह है कि ये ही रेल मजदूर रेल प्रबन्धन, दलाल यूनियन एवं असामाजिक तत्वों द्वारा चलाये गये दमन और शोषण के चक्के के नीचे पिसे जा रहे हैं। चक्रधरपुर से लगे देहाती क्षेत्रों की गरीब जनता और रेल मजदूरों की समस्यायें भिन्न प्रकार की होने पर भी कई वर्षों से सामंती शोषण का एक सामान्य रूप एक ही जंजीर में इन दोनों वर्गों को बाँध रखा है और यह जंजीर है बढ़ती हुई सूदखोरी, जिसके पीछे हैं भ्रष्ट रेल अफसरों, दलाल मजदूर नेताओं, साम्प्रदायिक तत्वों, प्रशासन और सूदखोरों का एक जाल, एक नापाक गठबंधन। इस गठबन्धन के खिलाफ रेल मजदूरों और ग्रामीणों का संयुक्त संघर्ष, इस संघर्ष से उभरा हुआ रेल मजदूरों के आन्दोलन का एक नया आयाम 'संग्राम समिति' और इसकी नीति, उद्देश्य, समस्यायें व संभावनाएँ इस लेख का मुख्य विषय है।

सूदखोरी का धंधा

उड़ीसा के बंडामुंडा से लेकर टाटानगर तक फैले हुए सूदखोरी के धंधे का केन्द्र है चक्रधरपुर। इस अंचल के गाँवों और शहरों-कस्बों की लाखों जनता सूदखोरों के चंगुल में फँसी हुई है। सूदखोरों का जाल कितना व्यापक है इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता

है कि चक्रधरपुर के रेल मजदूरों के 80 प्रतिशत चतुर्थ वर्गीय एवं 60 प्रतिशत तृतीय वर्गीय कर्मचारी सूदखोरों के पंजों में फँसे हुए हैं। रेल मजदूरों के अलावा गाँववाले भी सूदखोरों के चंगुल में हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार चक्रधरपुर क्षेत्र के देहाती इलाके के 40 प्रतिशत प्राइमरी शिक्षक सूदखोरों से शोषित हैं।

सूदखोरी शोषण का बहुत पुराना तरीका है। इससे समाज को बचाने के लिए हजरत मुहम्मद ने सूद लेने से मना किया था। सरकारी कानून के अनुसार भी यह प्रथा दण्डनीय है। लेकिन 20वीं सदी के आखिरी दशकों में भी यह मध्ययुगीन शोषण भारत में खुलमखुल्ला जारी है।

सूदखोरी के धन्धे में लगायी गयी पूँजी से जितना मुनाफा बनाया जाता है शायद उतना उतनी आसानी से दूसरे किसी धन्धे से नहीं होता है। चक्रधरपुर में आम तौर पर 20% ब्याज पर सूदखोर कर्ज देते हैं। याने सूदखोर 100 रु० पर एक साल में 120 रु० सूद से कमाता है। इतना ही नहीं, ब्याज का हिसाब ऐसे धूर्त ढंग से किया जाता है कि वास्तव में सूदखोर एक महीने में 100 रु० पर 20 से 30 रु० तक ऐंठ लेता है।

मिसाल के तौर पर,—डिबरू हो, किसान माझी, बिरसा हो, गोमिया गगराई आदि कई रेल मजदूरों ने एक सूदखोर से कर्ज लिये थे जिनके बदले उसने कर्जदारों के पासबुक और हस्ताक्षर किये हुए 'ब्लैंक चेक बुक' गिरवी रख लिये थे। नतीजे में उनका पूरा का पूरा वेतन सीधे सूदखोर के जेब में चला जाता था। डिबरु हो ने 1800 रु० कर्ज लिया था और उसे एक वर्ष में 2200 रु० सूद में देना पड़ा। सूद पर सूद के चक्कर के चलते 12,000 रु० सूदखोर को देने के बावजूद उसे कर्ज से छुटकारा नहीं मिला। बीमार पत्नी के इलाज के लिए उसके पास एक पैसा नहीं बचा; लाचार डिबरु अपनी पत्नी को मौत से बचा नहीं पाया।

सबसे ताज्जुब की बात तो यह है कि उक्त सूदखोर खुद एक रेल कर्मचारी (स्टेशन क्लर्क) है और रेलवे मेन्स यूनियन का कोषाध्यक्ष भी। इनका नाम है गोपाल रवानी, जिन्होंने जाली प्रमाणपत्र के आधार पर खुद को आदिवासी बता कर पदोन्नति भी पा ली है।

रेल यूनियन के नेता द्वारा ऐसा धन्धा चलाया जाना रेल प्रबन्धन के लिए और भी अच्छा है। हिस्सा तो उनको मिलता ही, साथ ही ऐसे भ्रष्ट मनोबल हीन नेतृत्व वाले मजदूर आन्दोलन को कुचलना प्रबंधन के लिए आसान हो जाता है।

पुराने धन्धे, पुराने विचार

औसतन प्रति घण्टा 8 माल गाड़ियाँ चक्रधरपुर रेलवे स्टेशन से होकर कच्चे माल के रुप में लाखों टन झारखण्ड की खनिज और वन सम्पदा को भारत के बड़े-बड़े कारखानों और निर्यात के लिए बन्दरगाहों ने पहुँचा देती हैं। हाँ, इससे सरकार जो मुनाफा कमाती है उससे चक्रधरपुर एवं झारखण्ड के अन्य इलाकों की जनता को वंचित रखती है। सरकार इस मुनाफे को यहाँ के विकास में नहीं लगाती। स्थानीय पूंजी व्यापार और सूदखोरी में लग जाती है। एक रेलवे केन्द्र होने के चलते शुरु से ही चक्रधरपुर ने बाहरी व्यापारियों को आकर्षित किया और धीरे-धीरे यह एक व्यापारिक केन्द्र बना।

सूदखोरों और व्यापारियों की वर्ग मानसिकता ही शायद चक्रधरपुर को साम्प्रदायिकता का आधार बना रही है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उससे जुड़े हुए भारतीय जनता पार्टी, अ० भा० विद्यार्थी परिषद और बजरंग दल के माध्यम से इस साम्प्रदायिकता के जहर का इस्तेमाल मजदूर आन्दोलन एवं झारखण्ड आन्दोलन को कुचलने के लिए तथा गरीब जनता की एकता को तोड़ने के लिए किया जा रहा है।

मिसाल के लिए, चक्रधरपुर के रेल यूनियन का नेता जहाँ सूदखोरी और जाली जाति-प्रमाणपत्रों का धन्धा चलाता है तो उसी यूनियन का दूसरा नेता श्री दास ब्राह्मण चक्रवर्ती बनकर भ्रष्ट यूनियन को बचाने और अपनी दादागीरी कायम रखने के लिए सम्प्रदायवाद को बढ़ावा दे रहा है।

इसे स्पष्ट करने के लिए एक घटना को लीजिए। पिछले साल जब रेल प्रशासन ने अनधिकृत ढंग से रेल कोलनी में बनाये जा रहे दुर्गा मंदिर को तोड़ दिया तो इस घटना को लेकर खुद को मूर्तिपूजा विरोधी कहनेवाले श्री दास उर्फ चक्रवर्ती ने हिंदू सम्प्रदायवादी तत्वों से हाथ मिलाकर अपने लिए समर्थक जुटाने की कोशिश की थी।

रेल मजदूरों का संघर्ष : चिनगारी से अग्निकांड

चक्रधरपुर के ग्रामांचल के वासिंदा श्री बहादुर उराँव चतुर्थ श्रेणी के रेल कमचारी हैं। गत वर्ष 15 मार्च को रात बारह बजे जब वे ड्यूटी पर आये तो उनकी हाजिरी बनाने के बदले ट्रान्सफर आर्डर उनके हाथ में धरा दिया गया। 12 घंटे के अन्दर 100 किलोमीटर दूर बरसवाँ स्टेशन जाकर ज्वाइन करना है।

रेलवे के नियमों के मुताबिक ट्रान्सफर (स्थानांतरण) का आदेश एक सप्ताह पहले दिया जाता है और आदिवासी मजदूरों को उनके गाँव के निकट के स्टेशन पर ड्यूटी दी जाती है। बहादुर के साथ-साथ अन्य चार आदिवासी कर्मचारियों—डिब्रू हो, एस० सांडिल, आर० बोदरा और नंदलाल बोदरा—को भी स्थानांतरण का आदेश मिला।

उन रेल मजदूरों को दिये गये इस हिटलरी आदेश के पीछे कारण यह था कि इन मजदूरों ने प्रबंधन और यूनियन नेताओं की मिली-भगत से चलाये जा रहे भ्रष्टाचार और सूदखोरी के खिलाफ संघर्ष का नारा बुलंद किया था। बहादुर उराँव सिर्फ एक लड़ाकू कर्मचारी ही नहीं बल्कि वे चक्रधरपुर अंचल के आदिवासी, दलित, गरीब तथा अल्पसंख्यक समूहों के प्रिय लड़ाकू साथी हैं। वे झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के एक कार्यकर्ता भी हैं। बहादुर और उनके साथियों के स्थानांतरण के पीछे एक बड़ा कारण यह भी था कि बहादुर की पहलकदमी से 21-1-86 को 'संग्राम समिति' नाम से एक संगठन गठन हुआ था जिसका उद्देश्य था सूदखोरी, रेल प्रशासन और यूनियन के भ्रष्टाचार और तानाशाही के खिलाफ लड़ना।

स्थानांतरण का आदेश मिलने पर बहादुर उराँव ने रेल मंडल प्रबंधक को लिखित रूप से एक तीखा जवाब दिया। उन्होंने इस पत्र में अपने तथा अन्य साथियों पर थोपे गये स्थानांतरण के आदेश को गैर-कानूनी साबित करते हुए माँग की कि रेल-प्रशासन और यूनियन के नेताओं की मिलीभगत से चल रहे भ्रष्टाचार, सूदखोरी आदि समस्याओं की अविलम्ब न्यायिक जाँच की जाये और चेतावनी दी कि अन्यथा वे दो सप्ताह बाद आमरण अनशन की सूचना देंगे।

लेकिन रेल प्रशासन की ओर से बहादुर उराँव द्वारा किये सप्रमाण आरोपों की सुनवाई नहीं हुई। अतः पूर्व के अनुसार उन्होंने 8-6-87 को मंडल रेल कार्यालय के सामने 'संग्राम समिति' के बैनर के नीचे 'सूदखोरी बंद करने', 'रेल प्रशासन और यूनियन नेताओं के भ्रष्टाचार की जाँच और कानूनी कारवाई', 'गैर-कानूनी स्थानांतरण का आदेश तुरंत रद्द करने आदि 'संग्राम समिति' की माँगों को लेकर आमरण अनशन शुरू की।

बहादुर उराँव के आमरण अनशन की खबर आग की तरह चारों तरफ फैल गयी। उस समय संग्राम समिति की सदस्य संख्या अधिक नहीं थी। फिर भी अनशन के प्रथम दिन ही संग्राम समिति के सदस्यों के साथ-साथ रेल के चतुर्थ एवं तृतीय वर्गों के अन्य कई कर्मचारी इस संघर्ष में शामिल हो गये। इसके अलावा चक्रधरपुर अंचल के आदिवासी, हरिजन और मुसलमान समुदायों के लोग भारी संख्या में जुटकर रेल कार्यालय के सामने बैठ गये।

दूसरे दिन तो हजारों लोगों की भीड़ लग गयी। झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के नेता मछुआ गगराई के नेतृत्व में परम्परागत हथियारों से लैस करीब 5000

झारखण्डी गोइलकेरा, रेंगड़बेड़ा, लोड़ाई जैसे दूर-दराज, तक के इलाकों से जुलूस में पहुँचे। (शहीद) निर्मल महतो, विधायक कृष्णा मार्डी, शैलेंद्र महतो, भू० पू० विधायक अर्जुनराम महतो के नेतृत्व में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के हजारों अनुगामियों एवं संग्राम समिति के कार्यकर्त्ताओं ने डी० आर० एम० तथा एस० डी० एम० के कार्यालयों के सामने प्रदर्शन किये। जुलूस ने नारे दिये—'बहादुर उराँव एवं अन्य आदिवासी रेल कर्मचारियों का स्थानांतरण रद्द करो', 'सूदखोरी बंद करो', 'गोपाल रवानी और शेखर दास के जाति प्रमाण-पत्रों की जाँच करके जल्द कारवाई करो' आदि।

संग्राम समिति की ओर से लड़ाई चलाने के लिए गठित नेतृत्व-मंडली में शामिल थे—बरूण बोस, के० सी० बानरा, साथी लागुरी, आर० के० चक्रवर्ती, फ्रांसिस कानसारी तथा एस० एम० चौधरी। विधायक जगन्नाथ बांकिरा ने संग्राम समिति के इस संघर्ष का समर्थन किया। शुरू में रेल यूनियन के विभिन्न गुटों की भूमिका केवल दर्शकों जैसी थी लेकिन लड़ाई में मजदूरों को स्वतः स्फूर्त शामिल होते देखकर वे भी (जी० एम० विश्वास-शेखर दास गुट को छोड़कर) कुछ हद तक संघर्ष में शामिल हुए। हाँ, एन० सी० चौधरी आर० एन० शर्मा गुट शुरू से अंत तक लड़ाई में शामिल रहा।

जब मछुआ गगराई के नेतृत्व में हजारों की संख्या में ग्रामीण संग्राम समिति के समर्थन में उतर पड़े तो संघर्ष ने एक नया मोड़ लिया। स्थिति विस्फोटक हो गयी।

अनशन के तीसरे दिन संग्राम समिति के कुछ सदस्यों एवं 19 अन्य व्यक्तियों ने हजारों लोगों के सामने अपनी जान कुर्बान कर देने की शपथ ली। तमाम रेल मजदूर लड़ाई में शामिल हो गये। संघर्ष में शामिल जनता ने रेल रोकने का निर्णय लिया।

रेल प्रशासन के खिलाफ जन-आक्रोश हिंसात्मक रुख ले रहा था। प्रशासन को झुकना पड़ा। बहादुर उराँव के 72 घण्टे के अनशन के बाद संग्राम समिति और प्रबन्धन के बीच एक लिखित समझौते के अनुसार स्थानांतरण का आदेश वापस लिया गया, गोपाल रवानी और श्री दास पर जाँच कमिटी बैठायी गयी और सब-डिविजनल मैजिस्ट्रेट के कोर्ट द्वारा सूदखोरी बन्द करने का आदेश जारी किया गया।

संघर्ष का मूल्यांकन

चक्रधरपुर के रेल कर्मचारियों की इस लड़ाई को गहराई से देखने से मजदूर आन्दोलन में उभरती हुई कुछ नयी दिशायें और आयाम दिखते हैं। इनका सम्बन्ध संगठन के ढाँचे, नेतृत्व और राजनीतिक दृष्टिकोण से है।

संग्राम समिति एक अलग तरह का संगठन है, इसके नेताओं की सामाजिक स्थिति और पद ऊँचा नहीं है; वे मजदूर हैं। मिसाल के तौर पर बहादुर उराँव एक आदिवासी हैं और रेल के चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी हैं।

लड़ाई के उद्देश्यों का भी महत्व है। यह लड़ाई वेतन बढ़ाने के लिए नहीं था, बल्कि इस क्षेत्र की मेहनतकश जनता की एकता और वर्ग-संघर्ष में बाधक सूदखोरी, साम्प्रदायिकता, यूनियन के नेताओं की दादागिरी और रेल प्रशासन के साथ साँठ-गाँठ में भ्रष्टचार के खिलाफ थी।

तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि शुरु से ही संग्राम समिति चक्रधरपुर अंचल के सभी जनवादी संगठनों एवं विभिन्न राजनैतिक दलों में प्रगतिशील तत्वों के साथ घनिष्ठ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाकर रखी रही, लेकिन खुद को किसी दल के नेतृत्व में सौंप देना उचित नहीं माना। समिति का विचार रहा है कि खुद अपना नेतृत्व करें। संघर्ष के मुद्दों के समर्थक अन्य संगठनों के कार्यकर्त्ता समिति के मंच पर आ सकते थे। लेकिन इस शर्त पर कि मंच को अपने दल के प्रचार का माध्यम न बनाया जाये। इस नीति के कारण चन्द भ्रष्ट नेताओं को छोड़कर बाकी संगठनों को संघर्ष का समर्थन करना पड़ा।

कुछ सवाल

संघर्ष से जीत हासिल करना एक बात है और संघर्ष से हासिल विजय को कायम रखना कुछ और बात है। जहाँ तक सूदखोरी का सवाल है, ध्यान में रखना चाहिए कि सूदखोरों के खूंखार शोषण के बारे में जानते हुए भी उनके पास लोग कर्ज के लिए जाते हैं। शादी-ब्याह, क्रिया-करम या महंगाई के चलते कर्ज लेना पड़ता है। कर्ज की राशि का अधिकांश फिजूलखर्ची में चला जाता है और स्थायी नौकरी करनेवाला यह कर्जदार सूदखोर के चंगुल में जा फंसता है। मुख्यतः सामाजिक बुराइयों के चलते आदमी इसमें फंसता है। इन बुराइयों को दूर किये बगैर सूदखोरी की प्रथा को खतम करना संभव नहीं है। पहले इन सामाजिक बुराइयों के खिलाफ प्रचार एवं कम ब्याज पर कर्ज की सामूहिक व्यवस्था की जरुरत है। क्या संग्राम समिति इस दिशा में कदम उठायेगा ?

यूनियन नेताओं की दादागिरी और भ्रष्टाचार एक देशव्यापी सच्चाई है। सवाल है कि आन्दोलन का सांगठनिक ढाँचा किस प्रकार बने कि मजदूर अपने संगठन को ऐसे नेतृत्व से बचा सके।

एक और सवाल यह कि अगर बहादुर उराँव स्थानीय आदिवासी और झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के कार्यकर्त्ता न होते तो क्या संग्राम समिति को इस लड़ाई में गाँव वालों का इतना समर्थन मिलता ? फिर यह भी कि जब कोई संगठन अपने को एक शक्ति के रुप में स्थापित करती है तो चुनाव की राजनीति करनेवाले धूर्त नेता उस पर नियन्त्रण करने और उसका इस्तेमाल करने की कोशिश करेंगे। क्या संग्राम समिति इससे बच पायेगा ?

सबसे महत्वपूर्ण बात है मजदूरों और देहातों की मेहनतकश जनता की एकता की समस्या। गरीब ग्रामीणों का कटु अनुभव यह रहा है कि शहर में रहने वाले मजदूर देहात क्षेत्र के संघर्ष से अपने को अलग रखते हैं। जैसे, चक्रधरपुर से लगे ग्रामांचल में 1977 से आज तक पुलिसी दमन और अत्याचार की अनेकों घटनाएं हुई हैं। लेकिन शहर के लोग, शहर के आदिवासी, हरिजन और अन्य गरीब भी, केवल मूक दर्शक बने रहे। अगर कोई ग्रामांचल का राजनीतिक कार्यकर्ता सोचेगा कि संग्राम समिति की जरुरत के समय तो हम हजारों की संख्या में गये, लेकिन हमारी जरुरत के वक्त दस रेल मजदूर भी नहीं आते हैं, तो उनका ऐसा सोचना गलत न होगा। संग्राम समिति की घोषित नीति में वादा किया गया है कि समिति देहात क्षेत्रों में शोषण विरोधी संघर्ष में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ेगी। मजदूर आन्दोलन में से उभरी हुई संग्राम समिति उपरोक्त पुरानी परम्परा को कब और कितना तोड़ पायेगी ?

इन सवालों का जवाब अदूर भविष्य में संग्राम समिति की नीति की कसौटी बनेगी। □

माहौल का असर मजदूरों पर

भौंरा कोलियरी के गोवर्धन मांझी और फागु भूईयां

रंजन घोष

एक मजदूर है गोवर्धन मांझी जो भौंरा कोलियरी में काम करता है। रविवार छुट्टी का दिन है, इसलिए, हमेशा की तरह वह शनिवार शाम को अपने गांव चमड़ा-बाद चला आता है। उसका गाँव कोलियरी से सिर्फ 10 कि० मी० दूर है, जहाँ उसकी बीबी-बच्चे और माँ-बाप रहते हैं। कार्तिक का महीना है। गाँव में धान कटनी शुरू हो गया है। गोवर्धन खेती भी करता है। घर में काम करने वाले कम हैं इसलिए गोवर्धन लग गया परिवार वालों की मदद करने में। नतीजा यह हुआ कि वह सोमवार और मंगलवार को काम पर नहीं जा सका। जब से खदानों का सरकारीकरण हुआ है, इस तरह 'नागा' (गैरहाजिर होना) करना एक मुसीबत है। छुट्टी लिए बिना दो दिन तक अनुपस्थित रहने का मतलब है चार्जशीट का मिलना। हो सकता है सस्पेन्ड भी होना पड़े। फिर तो यूनियन के नेताओं के पीछे घूमो, उनसे चार्जशीट का जवाब लिखाओ। यदि इसी तरह दो-तीन बार चार्जशीट मिला तो समझो कि नौकरी हाथ से गई। अब क्या किया जाये; घर के काम काज में कभी-कभी एक दो दिन का नागा तो हो ही जाता है। खैर, इससे घबराने की बात नहीं है। पिछला दरवाजा खुला है गोवर्धन जैसे लोगों के लिए। कोलियरी के हाजरी बाबू को गोवर्धन ने बतला रखा है इसलिए दो एक दिन नागा होने वह उसे बेदाग बचा लेता है। सवाल हो सकता है कि कैसे? यह तो खुला रहस्य है कि हाजरी बाबू ने गोवर्धन को हाजरी खाता में उपस्थित दिखला दिया। चूँकि प्रतिदिन गोवर्धन को कम से कम दो टन कोयला टब गाड़ी में भरना पड़ता है इसलिए दो दिन में चार टन कोयला का उत्पादन भी हाजरी बाबू को दिखाना पड़ा। यह बहुत आसान है क्योंकि ओवरमैन, माइनिंग सरदार, छोटा मैनेजर, बड़ा मैनेजर सबसे प्रेम-मुहब्बत रखते हैं हमारे हाजरी बाबू।

दो दिन अनुपस्थित रहने के बावजूद महीने के अन्त में पूरा पैसा मिला गोवर्धन को, हालांकि 40 रु० प्रतिदिन के हिसाब से दो दिन का जो 80 रु० गोवर्धन को फालतू मिला उसमें से 68 रु० देना पड़ा हाजरी बाबू तथा उनके भागीदारों को। बड़ा ही सुचारू बन्दोबस्त है। किसी को कोई तकलीफ नहीं; न चार्जशीट, न सस्पेन्सन और न ही यूनियन के पीछे दौड़-धूप। गोवर्धन कोई अपवाद नहीं है। भारत कोकिंग कोल के किसी भी कोलियरी में यह आम बात है।

आम का आम और गुठली का दाम

फागु भूइयां इस साल 'इण्डिया टूर' का 3,000 रु० उठाया। चार साल में एक बार यह पैसा मिलता है कोलियरी मजदूरों को, भारत भ्रमण करने के लिए। फागु अपने जिला के शहर मुंगेर तक भी नहीं गया है आजतक लेकिन अब तक दो बार भारत भ्रमण का पैसा उठा चुका है वह। हालांकि फागु अकेले 3000 रु० हजम नहीं कर सका, उसमें से करीब 300 रु० देना पड़ा उन बाबुओं को जिन्होंने उसके भारत भ्रमण का बिल बनाया।

कोलियरी मजदूरों को साल में सिक लीव, कैजुअल लीव और अर्नड लीव मिलता है। इन पावना छुट्टियों को तो आप पर्व-त्यौहार में खर्च करेंगे लेकिन 'सिक लीव'? आप बीमार हैं या नहीं, यह तो प्रमाण करेंगे कोलियरी के डाक्टर। तो फिर डाक्टर को कुछ दीजिए नहीं तो बीमार होने की इजाजत नहीं मिलेगी। अधिकांश कोलियरी मजदूर झंझट पसन्द नहीं करते हैं, इसलिए वे डाक्टर को खुश रखते हैं और वास्तव में बीमार हो या नहीं उन्हें 'सिक' लीव और उसका पैसा मिल जाता है।

राष्ट्रीयकरण के बाद कोयला का कुल उत्पादन काफी बढ़ा है और उसके सा ही बाजार में कोयले की कीमत भी। फिर भी भारत कोकिंग कोल घाटे में चल रहा है। सरकारी अफसर बताते हैं कि मजदूरों को वेतन और अन्य सुविधायें देने में ही कम्पनी का अधिकांश पैसा खर्च हो जाता है। तो क्या फागु भूईयां और गोवर्धन मांझी जैसे लोग इस घाटे के लिए जिम्मेवार हैं? जी नहीं। इसका श्र य तो मिलेगा ठेकेदारों को—कोयला ढुलाई तथा बालू ढुलाई का ठेकेदारों को।

गोवर्धन की गैर जिम्मेदारी या फांकीवाजी के चलते कम्पनी का नुकसान एक दिन में सिर्फ 40रु० है, जिसमें गोवर्धन का निजी लाभ मात्र 10 रु० है। इसे लाभ भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अगर वह 'नागा' (गैरहाजिरी) नहीं करता तो उसे पूरा 40 रु० ही मिलता। और फिर वह साल में एक-दो रोज ही ऐसा नाजायज फायदा उठाने की हिम्मत जुटा पाता है। यह तो उसकी लाचारी है जिसको जुर्माने के रूप में 30 रु० उसे चुकाना पड़ा। ठेकेदारों का मुनाफा तो करोड़ों में होता है।

खदान से डिपो तक कोयला पहुँचाता है ठेकेदार का ट्रक। महीने में अगर 200 ट्रक कोयला ढुलाई हुआ तो बिल बनेगा 500 ट्रक का। खदान से कोयला निकालने के बाद खाली जगह को बालू से भरने का कानून है (जिसे स्टोईंग कहा जाता है) ताकि ऊपर की जमीन धंस न जाये या जमीन के नीचे बचे-खुचे कोयले में आग न फैले। इसके लिए पास के दामोदर नदी से बालू लाया जाता है कोलियरियों में। जी हाँ, ठेकेदारों के ट्रकों से। इस बालू ढुलाई में भी फर्जी बिल बनता है। बेशक, मुनाफा अफसरों को बतौर कमीशन मिलता रहता है। नतीजा? डिपो में कोयला का जो फर्जी भंडार बनता है, वह पूरा किया जाता है कोयला के साथ पत्थर और मिट्टी मिलाकर। घटिया और खराब कोयला के बारे में बिजली कारखानों या इस्पात कारखानों की शिकायतों के बारे में क्या आप अखबारों में नहीं पढ़े हैं? और फर्जी बालू से जब स्टोईंग होता है तब जमीन का धंसना या जमीन के नीचे लगी हुई आग को भला कौन रोक सकता है?

हाल में धनबाद के उपायुक्त इन ठेकेदारों से थोड़ा सख्ती से पेश आने की कोशिश किये। कोलियरी प्रबन्धकों से आग्रह किये कि पुराने ठेकेदारों को ठेका न दिया जाये। स्थानीय दैनिक पत्र 'आवाज' बताते हैं कि सब ठेकेदारों ने मिल कर यह तय किया कि टेन्डर का दर ऊँचा रखा जाये ताकि ठेकेदारों में कोई प्रतियोगिता न हो और न ही कोई बाहरी ठेकेदार आ पाये। वे ऐसा कर सकते हैं क्योंकि उनकी भुजाओं में बल यानि बन्दूक पिस्तौल है। और फिर ये लोग किसी न किसी राजनीतिक पार्टी के नेता हैं, और मजदूर यूनियन के नेता भी। एक ऐसे ही नेता ने अखबार में बयान जारी किया कि कोलियरी के मामले में जिलाधीश की दखल अन्दाजी बर्दाश्त नहीं किया जायगा।

सचमुच अगर जिला प्रशासन चाहे तो भी इन ठेकेदारों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते हैं। इनके काले-कारनामों का कोई सबूत नही मिलेगा। इनके खिलाफ गवाही देने के लिए कोई तैयार नहीं होगा, और हो सकता है कि कल जिलाधीश को ही अपनी ईमानदारी की कीमत चुकाने के लिए कहीं तबादला न होना पड़े।

हमारे फागु भुईयां या गोवर्धन मांझी अपनी ही रोजमर्रे की समस्याओं में फँसे हुए हैं, उनकी बढ़ी हुई

मजदूरी समा जाती है मँहगाई रूपी दानव के पेट में। उनके काम की स्थिति में कोई खास सुधार नहीं हुआ। राष्ट्रीयकरण के 15 साल बाद भी खदान दुर्घटनाओं की संख्या घटी नहीं। दूसरी ओर हैं कोयला उत्पादन बढ़ाने के लिए लायी गयी बेहद कीमती मशीनें, जिसके चलते बढ़ा है शोर और धूल की मात्रा। बढ़ गई है टी० बी० दमा और काली खांसी जैसी खतरनाक बीमारियों की संभावनाएँ। जो मजदूर इन बीमारियों के शिकार होते हैं, या किसी दुर्घटना के चलते अपंग हो जाते हैं या कर्ज के भार से डूबे हुए हैं, वे दर-दर ठोकर खाते फिरते हैं। जो अभी भी स्वस्थ हैं, वे व्यस्त हैं सिक लिव या इन्डिया टूर जैसी छोटी-मोटी सुविधा पाने की होड़ में। और उनके यूनियन ? उनकी मुख्य माँगहै—बेटा-बहाली यानि कोलियरी मजदूरों के आश्रितों के लिए नौकरी। लुटेरे ठेकेदारों और भ्रष्ट अफसरों के खिलाफ सक्रिय प्रतिरोध करने की फुरसत उन्हें नहीं है। फिर उनकी यूनियन का नेता तो खुद ही ठेकेदार है। और हाँ ! ये ठेकेदार नेता पूरे जोश-खरोश के साथ बेटा बहाली की मांग उठाते हैं, मैनेजमेन्ट के खिलाफ गरमागरम भाषण झाड़ते हैं तो मजदूरों की तरफ से ठेकेदारों का सक्रिय विरोध की आशा ही कैसे की जा सकती है ?

अब कुछ बात बामपन्थी यूनियन और नेताओं की हो। बेशक, वे ठेकेदार नहीं हैं और न ही उनकी ईमानदारी पर सन्देह की कोई गुंजाईश है। एक जमाना था जब कोलियरी मालिकों के निजी कब्जे में था, कोयला उत्पादन ही ठेकेदारों के द्वारा होता था तब ठेकेदार, मालिक, उनके पालतू गुण्डों और सूदखोरों का आतंक सारे कोयला अंचल में छाया हुआ था। उन दिनों ये बामपन्थी नेता और यूनियन खूब लड़े। वे मार खाये, जेल गए फिर भी, गुण्डों, सूदखोरों और मालिक-ठेकेदारों के खिलाफ जमकर लड़े। लेकिन आज स्थिति बदल गई, निजी मालिकाना खत्म हुआ। ठेकेदार अब सरकारी कम्पनी बी० सी० सी० एल० का खजाना लूट रहा है। स्थायी मजदूरों पर सीधा चोट तो नहीं है, इसलिए बामपंथियों के लिए ठेकेदारों के खिलाफ मजदूरों को गोलबन्द करना मुश्किल है। बदली हुई परिस्थिति में संघर्ष के कोई नये मुद्दे बामपंथियों द्वारा नहीं उठाये जा रहे हैं जो मजदूर आन्दोलन को सिक-लिव या बेटा बहाली जैसे तात्कालिक और संकीर्ण मांगों से आगे ले जायगा, ताकि मजदूर न सिर्फ अपने बल्कि सारे समाज के स्वार्थ के लिए लड़ सकें। धनबाद कोयला अंचल में मजदूर आन्दोलन की यह असफलता गोवर्धन मांझी और फागु भुईयां को भी उन लुटेरे ठेकेदारों और भ्रष्ट अफसरों की कतार में शामिल कर दिया है, जिनके खिलाफ गोवर्धन और फागु ने एक समय जबर्दस्त संघर्ष किया था।

बहस

झारखण्ड प्राप्ति के संभावित उपाय

पौलुस कुल्लू

[राँची की 'तरूणोदय' नामक संस्था के श्री पौलुस कुल्लू द्वारा झारखण्ड आंदोलन तथा उसके भविष्य से संबन्धित समस्याओं और उनके समाधानों पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया एक लम्बा लेख 'झारखण्ड राज्य की रूपरेखा' हमें प्राप्त हुआ है। इस लेख के कुछ अंशों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। —संपादक]

जयपाल सिंह जैसे झारखण्ड के महान् नेता (मरांग गोमके) के द्वारा धोखा दिए जाने के बाद यह तो निश्चित हो गया है कि किसी भी पार्टी के नेता को जन-समर्थन प्राप्त नहीं होगा और इस तरह किसी भी पार्टी से झारखण्ड की प्राप्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि पार्टी के नेता खरीद लिए जाते हैं और उन्हें भिन्न-भिन्न तरीकों से बहका दिया जाता है। अतः आवश्यकता है नये सिद्धान्त पर आधारित नए जन-आन्दोलन की जिसमें ऐसी व्यवस्था हो कि किसी भी नेता को खरीदा न जा सके और साथ ही विभिन्न जातियों, भाषाओं और धर्मों के लोग एक साथ आ सकें। प्रश्न यही है कि झारखण्ड की इन छोटी-बड़ी जातियों को कैसे एक मंच पर लाया जाए और उन्हें किसी कार्य के लिए आन्दोलित किया जाए।

विभिन्न जातियों में एकता आवश्यक

जब हम विभिन्न जातियों को किसी सामूहिक उद्देश्य के लिए संगठित करने की बात करते हैं, तो सर्वप्रथम हमें विभिन्न जातियों की मनोभावनाओं को समझना आवश्यक है। यहां की हर जाति अपने आप में एक पूर्ण राष्ट्र के बराबर है और हर जाति की इच्छा है कि उसकी जाति बनी रहे, उसकी भाषा और संस्कृति का विकास हो और उसकी जाति की पहचान सर्वत्र हो। इसी मनोभावना के कारण ही जब कोई नेता झारखण्ड में उठ खड़ा होता है तो लोग सर्वप्रथम उसकी जाति और धर्म को देखते हैं क्योंकि उन्हें शासक जातियों द्वारा दबाए जाने अथवा निगल लए जाने का डर है। अतः जब उन्हें पता चल जाता है कि वह उनकी जाति अथवा धर्म का नहीं है, तब वे उस नेता का साथ छोड़ देते हैं। इस तरह यहां की राजनीतिक पार्टियां एक जाति और एक धर्म तक ही सीमित हो जाती हैं और इसी तरह यहां के नेता भी। जयपाल सिंह और उसकी झारखण्ड पार्टी के विषय में भी कहा जाता था कि यह मुण्डा जाति और लूथरन धर्म की पार्टी है। आज की झारखण्ड पार्टी पर भी यही दोष लगाया जा रहा है। इस तरह यहां के लोगों को एक पार्टी और एक नेता के अन्तर्गत एक साथ नहीं लाया जा सकता है। फिर यहां के लोगों को किसी एक धर्म अथवा जाति के नेतृत्व में घसीटना भी एक गलत कदम ही होगा क्योंकि ऐसा करने से यहां भी अन्य राज्यों की तरह जातीय संघर्ष अथवा जातीय आतंकवाद प्रारम्भ हो सकता है। अतः आवश्यक है कि हम एकता लाने की पुरानी पद्धतियों को त्याग कर किसी नयी पद्धति का आविष्कार करें।

झारखण्डियों की ऊपर लिखित मनोभावनाओं, आकांक्षाओं और रवैयों को देखने से लगता है कि विभिन्न जातियों के बीच एकता लाने की बात बहुत ही जटिल है। इसी बात को आधार मानकर यहां एक सुझाव पेश किया जा रहा है और लगता है झारखण्ड के लिए यहाँ

एकमात्र सही सुझाव है। वह सुझाव है झारखण्ड संघ की स्थापना। झारखण्ड संघ से तात्पर्य है विभिन्न जातियों के प्रतिनिधियों का संघ। यहां कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम हर जाति के लोग किसी भी पद्धति से अपने विभिन्न संगठनों के माध्यम से या प्रत्यक्ष चुनाव से अपना अपना जातीय प्रतिनिधि चुनें। इन्हीं जातीय प्रतिनिधियों का एक संघ बनाया जाए और इसी संघ के माध्यम से झारखण्ड का कोई भी राजनीतिक कार्यक्रम चलाया जाए।

झारखण्ड संघ कहकर जिस पद्धति की यहाँ कल्पना की जा रही है, उस पद्धति के द्वारा पूर्वकथित हमारी कई समस्याएँ और बाधाएँ अपने आप हल हो जायेंगी। सर्वप्रथम तो किसी एक जाति द्वारा प्रभुत्व स्थापित किए जाने की आशंका चली जाएगी। फिर ऊपरलिखित झारखण्डी नेता प्राप्त करने की समस्या भी हल हो जाएगी क्योंकि झारखण्ड संघ के द्वारा झारखण्ड संघ के सदस्यों में से जो नेता चुना जायगा, वह जातीय प्रतिनिधियों के माध्यम से काम करेगा। इसलिए अन्य जातियों द्वारा समर्थित होने अथवा न होने का प्रश्न नहीं उठेगा। इसी तरह इस पद्धति में किसी नेता के खरीदे जाने की समस्या भी नहीं उत्पन्न होगी क्योंकि संघ के शेष सदस्यों की नजर इस नेता के ऊपर रहेगी अथवा यदि इस तरह की समस्या आ ही जाएगी तो उसे हटा दिया जाएगा अथवा उसकी जाति के लोग उसे वापस कराकर कोई दूसरा प्रतिनिधि भेज देंगे। इन सब अच्छे परिणामों के अलावा इस पद्धति से एक लाभ यह भी होगा कि झारखण्ड की हर जाति अपने ही अन्दर एकताबद्ध हो जाएगी क्योंकि हर जाति को अपना प्रतिनिधि चुनने के लिए एक साथ आने को बाध्य होना पड़ेगा। इसी तरह इस पद्धति के द्वारा जातीय-स्पर्धा, जातीय-ईर्ष्या, आदि बुराइयाँ भी दूर हो जाएंगी। साथ ही साथ झारखण्ड की छोटी-बड़ी जातियां एक दूसरे के निकट आ जाएंगी।

झारखण्ड की भावी शासन-व्यवस्था

संविधान में भारत को प्रजातांत्रिक देश कहा गया है जिसका अर्थ होना चाहिए था जनता के द्वारा जनता के लिए शासन, लेकिन भारत में इसका व्यवहारिक रूप है—बहुसंख्यक द्वारा बहुसंख्यकों के लिए या बहुसंख्यकों के द्वारा अल्पसंख्यकों के ऊपर शासन अथवा शक्तिशालियों द्वारा कमजोर और गरीब लोगों के ऊपर शासन। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आज के भारतीय लोकतंत्र और पुराने जमाने के राजतंत्र में कोई अन्तर नहीं रह गया है अर्थात् आज की राजनीति जिसकी लाठी (जातीय जनसंख्या, पैसा, गुंडा-शक्ति) उसकी भैंस बन गयी है। यह सब भारत में जनसंख्या-वितरण पर आधारित चुनाव-प्रणाली के कारण हुआ। इस तरह की चुनाव-प्रणाली अल्पसंख्यक जातियाँ कहीं की नहीं रह जाती हैं, वे किसी भी हालत में राजनीति में प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती हैं। आज भारत में किसी भी राज्य से अथवा किसी भी पार्टी से एक ही प्रकार के व्यक्ति (बहुसंख्यक, शक्तिशाली उच्च जाति) प्रतिनिधि के रूप में चुने जा रहे हैं और लोगों की आँखों में धूल झोंकने के लिए अपने साथ हाँ में हाँ मिलानेवाले एक-दो अल्पसंख्यक व्यक्तियों का अपने मंत्री-मंडल में शामिल कर रहे हैं।

संविधान में भारत को प्रजातांत्रिक शब्द के साथ संघात्मक गणराज्य भी कहा गया है। संघात्मक गणराज्य का वास्तविक अर्थ होना चाहिए था सभी जातियों, भाषाओं और धर्मों का संघ। चूंकि भारत में पार्टी–प्रणाली है और प्रतिनिधियों का चुनाव उनकी जाति, धर्म और धन को देखकर किया जाता है, इसलिए भारत धनी, बहुसंख्यक और उच्च जातियों का संघ बन गया है जिसका काम है अपने लोगों के लिए गरीबों और कमजोर वर्गों पर मनमाना निरंकुश शासन चलाना।

झारखण्ड में भी छोटी-बड़ी कई जातियाँ हैं और वे कई धार्मिक समुदायों में विभाजित भी हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि यहाँ भी देश में प्रचलित राजनीतिक-प्रणाली ही लागू की जाए तो यहाँ भी जातीय तनाव, अल्पसंख्यकों पर दमनचक्र, आदि की नौबत आ जाएगी।

झारखण्डियों के अनुकूल शासन व्यवस्था स्थापित करने के लिए सबसे पहले उनके सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण को समझना और साथ ही उनकी परम्परागत शासन-पद्धति को भी मन में रखना आवश्यक है।

झारखण्डियों का विशेषकर आदिवासियों का सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण समता का दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण के अनुसार वे सब लोगों को सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में समान स्तर पर देखना चाहते हैं और वे सामाजिक अथवा आर्थिक किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़े हुए लोगों को ईर्ष्या और घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसी तरह वे घमण्डी अथवा हूकूमत चलानेवाले या नेता बनने के इच्छुक व्यक्तियों को भी इसी दृष्टि से देखते हैं। इस तरह उनका दृष्टिकोण समता का दृष्टिकोण है।

उनकी परम्परागत शासन-पद्धति भी इसी समता के सिद्धान्त पर ही आधारित है और फलस्वरूप यह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र और साम्यवाद का मिश्रण हो गई है। उनकी प्रत्यक्ष प्रजातांत्रिक प्रणाली में नेतागण चुने जाने के लिए नहीं बनते हैं, लेकिन उनको जनता द्वारा मनोनीत किया जाता है। उनकी शासन पद्धति इस अर्थ में साम्यवाद भी है कि इन मनोनीत नेताओं का काम हुकूमत चलाना अथवा कोई निर्णय लेना अथवा स्वतन्त्रतापूर्वक कोई योजनाएं बनाना नहीं है। इनका कार्य है जनता की बराबरी में रह कर औपचारिकता पूरी करना अर्थात जनता की इच्छानुसार सभाओं का आयोजन करना, सभा का मकसद समझाना अथवा किसी समस्या की व्याख्या करना और जनता द्वारा लिए गए निर्णय को कार्यान्वित करना। इस प्रणाली में निर्णय आदि लेने का काम जनता करती है, नेतागण नहीं। इस तरह इनकी शासन-पद्धति प्रत्यक्ष प्रजातांत्रिक साम्यवाद है। अब प्रश्न उठता है कि इस तरह की शासन-व्यवस्था में परम्परा से पलनेवाले और अपने नेताओं के प्रति इस तरह का दृष्टिकोण अपनानेवाले झारखण्डियों के लिए कौन-सी शासन-व्यवस्था उपयुक्त हो सकती है।

यह तो निश्चित है कि भारत में प्रचलित प्रजातांत्रिक-प्रणाली झारखण्डियों की मनोभावनाओं के अनुकूल नहीं है क्योंकि इस प्रणाली में चुनाव के लिए प्रत्याशी खड़े होते हैं, चुनाव का आधार जनसंख्या वितरण है तथा नेतागण और सरकारी आदमी हुकूमत चलाते हैं।

झारखण्ड-संघ द्वारा शासन-व्यवस्था

ऊपर जब हम झारखण्ड-संघ का वर्णन कर रहे थे, उस समय हमने कहा था कि झारखण्ड-संघ ही एक ऐसा संगठन हो सकता है जिसे सभी झारखण्डी स्वीकार कर सकते हैं और जो सभी झारखण्डियों को एकताबद्ध कर सकता है। अगर ऐसी बात है तो क्यों न झारखण्ड-संघ पर ही झारखण्ड की शासन-व्यवस्था का भार भी छोड़ दिया जाए अर्थात् झारखण्ड-संघ के सदस्य ही क्यों न मन्त्रिमण्डल का गठन करें? चूंकि झारखण्ड-संघ सभी जातियों के प्रतिनिधियों का संघ होगा, इसलिए इसी के द्वारा चलाया गया शासन भी सभी झारखण्डियों द्वारा स्वीकार होगा और यहां की छोटी-बड़ी सभी जातियों के प्रति न्याय बरता जा सकेगा।

वर्तमान झारखण्ड आन्दोलन की समीक्षा

झारखण्ड आन्दोलन को लेकर आज झारखण्ड में कई गुट कार्यरत हैं—झारखण्ड पार्टी, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, झारखण्ड समन्वय-समिति, आजसू आदि। झारखण्ड-समन्वय-समिति और आजसू को छोड़कर शेष संगठन राजनीतिक पार्टियां हैं। इन राजनीतिक पार्टियों से झारखण्ड की आशा नहीं की जा सकती है क्योंकि ये गम्भीरता से झारखण्ड की मांग नहीं कर रही हैं। अगर ये विभिन्न पार्टियां अपने लक्ष्य के प्रति वफादार होती तो ये एक साथ आकर योजनाबद्ध तरीके से इस ओर कदम उठातीं। ये एक साथ आएंगी भी कैसे जब इन्हें एक दूसरे की निन्दा करने से फुर्सत नहीं है तो? फिर यहां की हर पार्टी चाहती है कि झारखण्ड उसी के हाथों मिले।

ऐसी स्वार्थी पार्टियों से झारखण्ड की आशा करना तो बेकार है ही, झारखण्ड प्राप्त होने से भी किसी फायदे का नहीं है।

झारखण्ड-समन्वय-समिति और आजसू हाल में गठित स्वतन्त्र संगठन हैं। इन संगठनों ने झारखण्ड आन्दोलन को नया मोड़ और नया जोश प्रदान किया है। ये दोनों संगठन एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। अगर झारखण्ड-समन्वय-समिति प्रौढ़ और बुद्धिजीवियों का दल है तो आजसू उसका युवा दल है। अभी तक आजसू सबसे शक्तिशाली और सुसंगठित सिद्ध हुआ है और इसमें सन्देह नहीं कि आजसू झारखण्ड न ले सके।

झारखण्ड-समन्वय-समिति भी आजसू की तरह ही एक स्वतन्त्र संगठन है। इसका लक्ष्य है सब झारखण्डी पार्टियों और आन्दोलनों को एक मंच पर लाना। यदि सब झारखण्डी पार्टियां एक मंच पर आ जाएंगी तो झारखण्ड आन्दोलन में अवश्य तेजी आएगी। इस कारण झारखण्ड-समन्वय-समिति का लक्ष्य अच्छा ही है, लेकिन बहुत सन्देह है कि यह अपने लक्ष्य को कभी प्राप्त कर सकेगी क्योंकि प्रायः सभी पार्टियां इसकी निन्दा करने लग गयी हैं। फिर ऐसा भी लगता है कि यह झारखण्ड-समन्वय-समिति धीरे-धीरे स्वयं एक अलग राजनीतिक पार्टी में परिवर्तित हो जाएगी और उसके बाद तो इसकी भी वही हालत होगी जो कि अन्य पार्टियों की है। अब तक के झारखण्डी नेतागण झारखण्डियों को एक झण्डे के नीचे अर्थात् अपनी-अपनी पार्टी के नीचे आने का आह्वान देते रहे हैं। हमने पहले ही देखा है कि यहां के लोग एक पार्टी अथवा एक नेता के पीछे आनेवाले नहीं हैं क्योंकि यहां के लोग विभिन्न जातियों और धर्मों के हैं और पार्टी राजनीति झारखण्डियों की राजनीति नहीं है, यह उनकी मनोभावनाओं के प्रतिकूल है। अतः यदि झारखण्ड-समन्वय-समिति सभी पार्टियों को एक मंच पर लाने में सफल हो भी जाती है, फिर भी वह संयुक्त पार्टी सब झारखण्डियों द्वारा समर्थित हो जाएगी, कहना कठिन है। अतः चूंकि यहां के लोग विभिन्न जातियों के हैं, उन्हें जातीय आधार पर ही अर्थात् जातीय प्रतिनिधियों के संघ द्वारा ही एकताबद्ध किया जा सकता है। विभिन्न पार्टियों को एक मंच पर लाने के बदले झारखण्ड-समन्वय-समिति अगर इस लेख में वर्णित झारखण्ड संघ की स्थापना में लग जाती तो ज्यादा अच्छा होता।

निष्कर्ष

झारखण्डी लोग वास्तव में झारखण्ड अलग प्रान्त की मांग के विरोधी नहीं हैं। सैद्धान्तिक स्तर पर सब कोई चाहते हैं कि उनका अपना अलग राज्य हो, उनपर शासन करनेवाले अपने लोग हों, शान्तिपूर्ण विकासके लिए एकताबद्ध हों, आदि, लेकिन एकताबद्ध होने के लिए उनके पास उपाय नहीं है, एकताबद्ध होने के लिए उनके पास कोई व्यक्ति अथवा संगठन भी नहीं है। फिर उनको अलग-थलग करनेवाली शक्तियां बहुत अधिक हैं और उनसे अधिक शक्तिशाली हैं। भूतकाल की घटनाओं में झारखण्डियों को जान-माल की हानि और क्रूर दमन का सामना करना पड़ा है, नेताओं द्वारा उन्हें धोखा खाना पड़ा है। इन्हीं कारणों से आज वे किसी भी आन्दोलन अथवा संगठन या व्यक्ति के प्रति उदासीन हैं, हर संगठन, आन्दोलन अथवा नेता को अविश्वास की नजर से देखने लगे हैं। ऐसी हालत में यहां के लोगों का विश्वास प्राप्त करना सचमुच बहुत कठिन है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर इस लेख में झारखण्ड-संघ की कल्पना की गयी है और यह लेख लिखा गया है। □

पुस्तक समीक्षा

जंगल और आदिवासी : शोषण के शिकार

लेखक : मैथ्यू अरीपराम्पिल

प्रकाशक : ट्राइबल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग सेंटर, चाईबासा—833201

मूल्य : दस रूपये

जंगलों पर आदिवासियों के हकों का ऐतिहासिक दस्तावेज

1978 में 'जंगल आन्दोलन' के नाम से परिचित आदिवासी आंन्दोलन एक अनियंत्रित आग की तरह सिंहभूम जिले में फैल गया था। अपनी आजीविका और जंगलों पर अपने मालिकाना छीने जाने और अपनी संस्कृति पर हमलों के विरोध में इस आन्दोलन की शुरूआत हुई थी। पोड़ाहाट के जंगलों में पेड़ों की व्यापक कटाई से विरोध प्रदर्शन करने वाले इस प्रतीकात्मक किंतु आत्मघाती आन्दोलन की सारवस्तु यह थी कि जंगलों का असली दावेदार कौन है—आदिवासी या सरकार। इस मौलिक विवाद और इस आंदोलन की गंभीरता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस आंदोलन को कुचलने के लिए 1978 से 1985 तक की अवधि में 18 गोलीकांड हुए, 50 गाँवों के कुल 450 मकान ध्वत या जला दिये गये, 6000 से अधिक आदिवासियों के खिलाफ 1600 से अधिक मुकद्दमे दायर किये गये।

'जंगल और आदिवासी : शोषण के शिकार' शीर्षक पुस्तक के विद्वान लेखक मैथ्यू अरीपरमपिल ने अपनी इस किताव में इस आंदोलन का अध्ययन करने और इसके कारणों को चिन्हित करने की कोशिश की है। पुस्तक के तीन भाग हैं। पहले भाग में ऐतिहासिक विवरण हैं, जिसमें आदिवासियों को उनके परम्परागत निवास के, उनके पूर्वजों द्वारा स्थापित, गाँवों से उजाड़े जाने और उनको जंगलों और जमीनों पर उनके परम्परागत अधिकारों से वंचित किये जाने का ब्यौरा दिया गया है।

दूसरे भाग में भारत में वन-नीतियों और उनको लागू करने की प्रक्रिया की समीक्षा की गयी है। और तीसरे भाग में जंगलों, आदिवासियों और विकास के बारे में दो प्रमुख विद्वान, डॉ० बी० डी० शर्मा और डॉ० बी० के० रायबर्मन के महत्वपूर्ण सुझावों को प्रस्तुत किया गया है।

पहले भाग में वर्णित बातों में शामिल हैं : अंग्रेजों के आने के पहले सिंहभूम जिले की राजनीतिक स्थिति, अंग्रेज राज द्वारा यहाँ किये गये बदलाव और वन एवं भूमि से संबंधित कानूनों से उत्पीड़ित आदिवासियों द्वारा किये गये विद्रोह—कोल विद्रोह, सरदारी आंदोलन, बिरसा आन्दोलन—और उनके कारण, जैसे जमींदारों, ठोकेदारों और सरकार द्वारा खूँटकट्टीदारों को जंगलों और जमीनों से बेदखल किये जाने का ब्योरा आदि। लेखक ने दस्तावेजों का व्यापक उल्लेख करते हुए इन विवरणों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह भी दर्शाया कि आजादी के बाद स्वदेशी सरकार ने भी उद्योगपतियों और व्यवसायियों के हित में अंग्रेज सरकार की नीतियों को जारी रखते हुए जंगलों और आदिवासियों को विनाश के कगार पर ला कर खड़ा कर दिया है। जंगलों के मालिकाना पर केन्द्रित द्वंद पर विचार करते हुए लेखक इस बात पर पाठकों का ध्यान खींचने में समर्थ रहे हैं कि वन-विभाग के जन-हित विरोधी क्रमों के

खिलाफ आदिवासियों का वर्तमान विद्रोह भी इन्हीं वन-प्रखंडों में आरम्भ हुआ, जहाँ के अधिकांश गाँव खूँटकट्टी गाँव हैं, याने जिन गाँवों में सिंहभूम के प्रथम एवं प्रमुख वासिंदे 'हो' और 'मुन्डा' आदिवासियों ने जंगल-झाड़ियों को साफ करके कृषि-योग्य भूमि हासिल की और गाँवों को बसाया। जिसने जितनी जमीन साफ करके कृषि-योग्य बनायी उस पर उसी का कब्जा माना गया और उसके पीढ़ी दर पीढ़ी का दावा रहा। सीमाना बोंगाओं के प्रति सामूहिक पूजन और भेंट-अर्पण के बाद ही गाँवों के बीच सीमारेखाएँ निर्धारित की गयीं। गाँव की सीमा रेखा के अंदर पड़नेवाली कृषि-योग्य भूमि या बंजर-भूमि, पहाड़-पहाड़ियाँ, जंगल-झाड़, नदी-नाले तथा जमीन के अन्दर की सारी वस्तुएँ उस गाँव की सामूहिक संपत्ति बन गयीं। मूल भू-अर्जक परिवार या वंशजों से उनकी अधिकृत भूमि विक्रय या हस्तांतरण के किसी भी तरीके से ली नहीं जा सकती थी। याने खूँट-कट्टी गाँव सिर्फ आर्थिक ही नहीं बल्कि राजनैतिक इकाई भी था, जिसका भारतीय वन अधिनियम 1878 और 1927 ने पूरी तरह उल्लंघन किया। लेखक ने दस्तावेजों का उल्लेख करते हुए विस्तार से इस प्रक्रिया का वर्णन किया है।

वनों के आरक्षण के बाद देखते ही देखते सैकड़ों खूँटकट्टी गाँव जड़-मूल समेत उजाड़ दिये गये। उजाड़े गये उन गाँवों की जगह आज भी कुछ ग्रामीण चिन्ह, जैसे—ससनदिरी, बड़ के पेड़, आम के पेड़, धान-खेत के मैदान आदि साफ दिखायी पड़ते हैं। ससनदिरी आदिवासियों के परचे-पट्टे हैं; मुंडा लोग कहते हैं—"ससनदिरी को होड़ होन कोवाः पट्टा"। फिर भी रिजर्वेशन के पहले ग्रामीणों के अधिकारों और आरक्षित इलाकों में गाँव होने की बात की जाँच किये बगैर आरक्षण की घोषणा कर दी गयी। लेखक ने खुद आरक्षित वनों में करीब एक सौ पुराने गाँवों के स्थलों में जाकर आदिवासियों के दावोंकी जाँच की है, और पाया कि ससानदिरियाँ आज भी मौजूद हैं (परिशिष्ट-2)। और वे ऐतिहासिक एवं वर्तमान के तथ्यों से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जंगलों को आरक्षित एवं संरक्षित वनों में बदलने की प्रक्रिया में सैकड़ों खूँटकट्टी गाँवों को जड़ से उजाड़ दिया गया, और आदिवासियों को उनकी आजीविका के साधनों से वंचित करके लाचार बना दिया। सत्ताधारियों के प्रति जंगलों से जुड़े हुए आदिवासी समुदायों के आक्रोश उजागर करते हुए लेखक ने ऐतिहासिक काल में हो लोगों (जो आदिकाल में मुंडा जाति के ही अंग थे) को अपने निवास के क्षेत्र राँची और उत्तरी सिंहभूम को छोड़कर दक्षिणी सिंहभूम की ओर पलायन के बारे में तथ्यों पर आधारित यह विचार प्रस्तुत किया है कि जो झारखण्ड के विभिन्न आदिवासी समुदायों की आंतरिक विशेषताओं के गहरे अध्ययन में मानव-विज्ञानियों को प्रोत्साहित करेगा।

पुस्तक के दूसरे भाग में आजादी के बाद भारत सरकार की वन-नीति का एक अध्ययन किया गया है। अंग्रेज भारत और स्वाधीन भारत की वन नीतियों की तुलना करते हुए वे नतीजा निकालते हैं कि 1894 और 1952, दोनों अवसरों पर वन नीतियों का एक ही वक्तव्य था कि यह सब राष्ट्रीय हित में किया जा रहा है। 'राष्ट्रीय हित' प्रभुत्वशाली वर्ग का बड़ा हथियार बना, जो आदिवासी समुदायों के वनाधिकारों को हड़पने और उससे उत्पन्न उनके असंतोष को दबाने में कारगर साबित हुआ। तथाकथित राष्ट्रीय हित प्रबल वर्गों के सिवा दूसरा कुछ न था।

पुस्तक के अन्तिम भाग में लेखक ने वन, जनजातियों और विकास के सम्बन्ध में दो विशेषज्ञों डॉ० बी० डी० शर्मा और डॉ० बी० के० राय बर्मन के प्रस्तावों को प्रस्तुत किया है। डॉ शर्मा के अनुसार "जनजातीय विकास और वन-विकास दोनों बराबरी के लक्ष्य हैं।" उन्होंने अपनी अनुशंसा में लिखा कि जनजातियों के हितों और वन विकास का एकीकरण तभी सम्भव है जब जनजातियों को वन-प्रबन्ध और वन-उत्पादन की प्रक्रिया में लाभपूर्ण साझेदारी दी जाये।

"जनजातियाँ वनों के लिए और वन जनजातियों के लिए" के विचार को केन्द्रीय महत्व देते हुए दिये गये डॉ० राय बर्मन के सुझावों (1982) में वन नीति, वन पालन और जन-जातियों का विकास, अदली-बदली खेती, वन-ग्राम, सामुदायिक वन-पालन, वन पर आधारित उद्योग, वन के लघु उत्पाद, वन श्रमिक सहयोग समितियाँ, वन-प्रबन्ध, सुरक्षित वन-प्राणी मंडल, और वन-कानून से सम्बन्धित सिफारिशें की गयी है, हालाँकि इन सिफारिशों के बावजूद सरकार की ओर से आज तक कोई मौलिक कदम नहीं उठाये गये हैं। इस स्थिति को देखते हुए लेखक ने सही कहा है कि इन सिफारिशों के विपरीत "हाल के सरकारी रुखों को देखकर कहना पड़ता है कि सरकार प्रभावी वर्ग के स्वार्थ-हितों के ताल पर ही नाचती रही है।"

श्री मैथ्यू अरीपरमपील की इस पुस्तक ने जंगलों और आदिवासियों के बीच सहजीवी सम्बन्ध के बारे में कुछ गहरे सवाल उठाये हैं जिसके बारे में झारखण्ड के बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकताओं और राजनीतिज्ञों में नहीं के बराबर चर्चा हुई हैं। लेखक ने अपने अध्ययन के लिए जिन तथ्यों को जिस सुव्यवस्थित ढंग से उपयोग किया है और जिन प्रश्नों को उठाया है वे विषय के अधिक व्यापकतर अध्ययन में अन्य लोगों के लिए प्रेरणास्रोत व सहायक होंगे।

पुस्तक की कमियों में प्रमुख बात यह है कि लेखक ने समस्या के बारे में खुद के विचार नहीं रखे हैं। जहाँ सीमित रूप से रखे भी हैं वहाँ वे विचार उनके समतावादी और समाजवादी दृष्टिकोण से तालमेल नहीं रख पाते हैं। पुस्तक में कुछ पुनरावृत्तियों से बचा जा सकता था।

वन तथा आदिवासी समस्याएँ गम्भीर समस्यायें हैं। इन समस्याओं के हल में सरकारी नीतियों, विशेषज्ञों के सुझावों और आदिवासी जनता के दृष्टिकोणों में न केवल अन्तर है बल्कि अंतर्विरोध भी है। इस मामले में जनता आजतक मात्र मूक दर्शक और श्रोता बनकर रह गयी है। सिंहभूम में आदिवासियों के साथ आत्मिक बंधन में बंधे हुए श्री मैथ्यू से हम आग्रह करेंगे कि उनकी अगली पुस्तक में वे जनता के दृष्टिकोण को प्रमुखता देते हुए अपने अधूरे काम को पूरा करें।

—निर्मल लकरा

क्या झारखण्ड भी असम बनेगा ?

लेखक : सूर्य सिंह बेसरा

प्रकाशक : नरेशचन्द्र मुमु

कार्यालय सचिव

ऑल झारखण्ड स्टूडेण्ट्स यूनियन केन्द्रीय कमिटि

मूल्य : 3 रुपये

मात्र एक वर्ष में आजसू (आल झारखण्ड स्टूडेंट्स यूनियन) ने झारखण्ड आन्दोलन में एक नयी और जुझारू धारा के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया है। 50 वर्षों से चल रहे झारखण्ड आन्दोलन में पहली बार आजसू के बैनर के नीचे इतनी भारी संख्या में युवा-छात्र जो शामिल हुए उसका काफी कुछ श्रेय संगठन के संस्थापक व महामन्त्री श्री सूर्यसिंह बेसरा को मिलना चाहिए।

झारखण्ड प्रान्त के लिए कालबद्ध, सुनियोजित आन्दोलन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध एवं त्याग और बलिदान में विश्वास करनेवाले श्री बेसरा द्वारा रचित पुस्तिक "क्या झारखण्ड भी असम बनेगा ?" से काफी उम्मीद की जानी चाहिए। श्री बेसरा इसलिए भी धन्यवाद के पात्र हैं कि पहली बार किसी झारखण्डी नेता ने अपने विचारों को जनता के सामने लिखित रुप में रखा है। लेकिन निराशा की बात यह है कि झारखण्ड आन्दोलन की समस्याओं का गहराई से अनुसन्धान करने के बदले श्री बेसरा ने तेजस्वी भाषण का सहारा लेते हुए युवा-छात्रों को आत्म-बलिदान के लिए ललकारने

के सिवा वैसे कोई मौलिक विचार प्रस्तुत नहीं किये हैं जो झारखण्ड आन्दोलन का सही विश्लेषण कर सकें एवं सही दिशा दे सकें।

लेखक के कथनानुसार यह पुस्तिका असफल झारखण्ड आन्दोलन और असम के सफल छात्र आन्दोलन के तुलनात्मक अध्ययन के लिए लिखी गयी है। लेकिन वास्तव में न तो इस पुस्तिका में झारखण्ड आन्दोलन में छात्र आन्दोलन की भूमिका के इतिहास को दर्शाया गया है और न ही इस आन्दोलन में युवा-छात्र बुद्धिजीवियों की भूमिका का मूल्यांकन किया गया है। असम आन्दोलन के सिलसिले में श्री बेसरा ने मात्र उसके कार्यकलापों को ही महत्व दिया है लेकिन उस आन्दोलन को पीछे से अपने वर्ग स्वार्थ के लिए संचालन कर रही सामाजिक शक्तियों को सामने नहीं लाया है। सो, यह पुस्तिका विश्लेषणात्मक नहीं बनी, बल्कि मात्र "करो या मरो", "तुम मुझे खून दो, मैं तुझे आजादी दूँगा" जैसो ललकारों से भरा एक घोषणा-पत्र मात्र बनकर रह गया है।

पुस्तिका में श्री बेसरा ने ऐसे कुछ विचार रखे हैं जो झारखण्डी जनता में विभेद पैदा कर सकते हैं, जैसे— "....."झारखण्डी राष्ट्रीयता मूलतः आदिवासियों के कई जाति समूहों को मिलाकर, खास पहचान बनती है।" (पृष्ठ-4)। क्या यहाँ के हरिजन, मुसलमान और सदान तथा यहाँ सदियों से बसे हुए गरीब बंगाली, बिहारी, उड़िया आदि झारखण्डी नहीं हैं? इस सन्दर्भ में झारखण्डी नेताओं के लिए यह भी गम्भीरता के साथ सोचना जरुरी है कि आज तक क्यों हरिजन, सदान आदि झारखण्ड आन्दोलन में उतने सक्रिय रुप से शामिल नहीं हैं।

लेखक ने सही कहा है कि अलग झारखण्ड राज्य प्राप्त करने के लिए "सभी वर्गों के लोगों को जोड़ना होगा" (पृष्ठ 8), लेकिन इतना ही कहकर वे युवा-छात्र-बुद्धिजीवियों की क्रान्तिकारी भूमिका तथा नेतृत्व की अपरिहार्यता के प्रश्न पर स्वयं ओजस्वीता में उतर गये हैं। मुख्य सवाल है: मजदूर, किसान, ठेका मजदूर, महिलाएँ आदि विभिन्न वर्ग झारखण्ड आन्दोलन में क्यों शामिल होंगे अगर उनके वर्गहित एवं उनकी सुरक्षा के लिए ठोस कार्यक्रम लेकर आन्दोलन नहीं चलेगा और आन्दोलन में उनका प्रतिनिधित्व नहीं होगा?

श्री बेसरा ने स्वयं स्वीकार किया है कि "झारखण्ड और असम (छपाई में गड़बड़ी के चलते असम के बदले 'समाज' छप गया है) की मूलभूत समस्याओं में बनियादी फर्क है" (पृष्ठ 10), जिसे ध्यान में नहीं रखने से यह सवाल कि "क्या झारखण्ड असम बनेगा?" लोगों में एक भ्रम पैदा कर सकता है। लेकिन यह बनियादी फर्क क्या है? आजसू के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण इस विषय का श्री बेसरा ने न्यूनतम स्पष्टीकरण भी नहीं किया है। आसू (ऑल असम स्टूडेंट्स यूनियन) के 'विदेशी भगाओ' आन्दोलन, आसू से प्रेरणा लेकर आजसू बनाना और फिर यह पुस्तिका "क्या झारखण्ड भी असम बनेगा?"—यह सिलसिला उपरोक्त भ्रम को मजबूत कर सकता है। खास कर आज पूरे देश में बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता की पृष्ठभूमि में इस भ्रम को दूर करना झारखण्ड आन्दोलन के लिए बहुत जरुरी है और श्री बेसरा का अपनी पुस्तिका में यह काम करना चाहिए था, लेकिन उन्होंने इस भ्रम से उत्पन्त खतरे को नजरअन्दाज किया।

झारखण्ड की समग्रता को आजसू में प्रतिबिंबित करने के लिए यह जरुरी है कि आजसू का नेतृत्व अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि का और अधिक सशक्त बनाये ताकि आन्दोलन संकीर्णताओं को अन्धी गली में न भटकजाये।

—विजय नाएक

आदिवासी अर्थनीति ओ भूमि समस्या

(बंगाली भाषा में)

लेखक : पशुपति प्रसाद महतो

बी० बो० प्रकाशन, कलकत्ता-41;

मूल्य—8 रुपये

श्री पशुपति प्रसाद महतो झारखण्ड के जाने-माने बुद्धि जीवी हैं। मानभूम इलाके के एक कुड़मी किसान परिवार में जन्मे श्री महतो नृतत्व विज्ञानी हैं। एन्थ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया, कलकत्ता में एक उच्च पदाधिकारी रहते हुए वे झारखन्डी संस्कृति और झारखंण्डियों की समस्याओं के साथ तादात्म्य बोध करते हैं।

बंगला भाषा में लिखित 'आदिवासी अर्थनीति ओ भूमि समस्या' शीर्षक पुस्तक में श्री महतो ने झारखण्ड के विभिन्न समुदायों के बीच आपसी आर्थिक-सांस्कृतिक आदान-प्रदान से बनी झारखण्डी संस्कृति, उसकी विशेषता तथा इस क्षेत्र की सामूहिकतामुखी समाज एवं जन-संस्कृति को बिगाड़ रही विभिन्न शोषण प्रक्रियाओं का विस्तृत अध्ययन करने की कोशिश की है और इस सिलसिले में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को भी सामने रखने का प्रयास किया है। इस महत्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डालने में श्री महतो का चिंतनशील प्रयास अभिनन्दन योग्य है।

पुस्तक के शीर्षक से पाठकों में कुछ गलत उम्मीदें उभर सकती हैं। सामाजिक उत्पादन व्यवस्था से जुड़ी हुई आदिवासी अर्थव्यवस्था की क्या विशेषताएँ हैं ? कृषि अर्थनीति से उसका फर्क (अगर है तो) क्या है और निर्णायक तत्व क्या हैं ? झारखण्ड के विभिन्न आदिवासी समुदायों में भूमिव्यवस्था कैसी थी, उसमें मालिकाना के क्या सम्बन्ध थे और ये कैसे और क्यों बदल रहे हैं ?—इन सवालों पर पुस्तक में सरसरी निगाह से एक मामूली सी चर्चा की गयी है। मुद्दों को उजागर करने की मौलिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का अभाव है। श्री महतो की इस पुस्तक की दूसरी कमी यह है कि पुस्तक में शामिल बहुत सारे विषयों (जैसे—'भूस्वामित्व एवं तारतम्य', 'झारखन्ड की भूमि-व्यवस्था में पंचकोटि जमींदारी', 'कुड़मी-महतो सम्प्रदाय की समाज-संरचना', 'आदिवासियों पर ब्राह्मणवादी संस्कृति का दबाव, 'झारखण्ड में भाषाई राजनीति', 'स्वतन्त्रता संग्राम में मानभूम', 'छोटानागपुर की जमीन एवं श्रमिकों पर कर्तृत्व', 'आदिवासियों के सामाजिक जीवन में वनों की भूमिका', झारखण्ड में बड़े बाँधों की परियोजनाएँ तथा विस्थापन की समस्या आदि) को आपस में जोड़नेवाले संयोजक-सूत्रों के अभाव से लगता है कि पुस्तक विभिन्न निबन्धों का एक संकलन है।

हालाँकि यह किताब झारखण्डी जनता की भू-समस्या और झारखन्ड आंदोलन को ध्यान में रखते हुए लिखी गयी है फिर भी इनसे सम्बन्धित वास्तविकताओं को पूर्णतः छू पाने में असमर्थ रही है। इसका अन्यतम कारण यह है कि झारखण्ड के विस्तार व व्यापकता से हटकर मात्र मानभूम एवं कुड़मी समाज तक ही लेखक की लेखनी सीमित रही है।

फिर भी, इन खामियों के बावजूद पुस्तक झारखन्डी बुद्धिजीवियों को झारखन्ड की आर्थिक, संस्कृतिक एवं सामाजिक विशेषताओं तथा उनके बीच के अंतर्संबंधों का वैज्ञानिक अध्ययन करने में प्रोत्साहित व प्रेरित करेगा।

अनिल महतो

मुन्डा लोकगीत

दीकू जाति दुकू दासा आतूतान दिसुम....
सोबेन हागा-मिसी को चेतन रे
जमींदारी जुरूम कोते, आतूतान दिसुम
सब तियारेनपे तिसिञ
सर-अः सर ओन्डोः तुरई,
गोजेन तेया गे बुगिना
नेकन एडक्रा जीवोनय ते,
बिरसा भगवान आबुवा नेता तनय ।
काबु वगे कोबाबु जमींदार, महाजन
ओन्डोः बनिया तेको के
अको गे इडा कडा को आबुवा ओते-हासा
काबु बगेयाबु आबुवा खूँटकट्टी अधिकार ।
कुला ओन्डो बिञ कोते पेरेयाकन
ओकोन बुरु-टोनंग कोबु मआ-सपा लेडा
एन बोदराकन ओते-हासा
नाअव आतू इडो तना....

निर्दय लोग और दुःख दर्द से
पीड़ित है आज हमारा देश,
सभी भाई-बहनों पर
जमीन्दारी जुलम का टूटता कहर,
शोषित है आज हमारा देश ।
कमर कस कर अब, उठा लो आज
अपने तीर-कमान और तलवार,
मौत बेहतर है आज
ऐसो अपमानित जिन्दगी से
बिरसा भगवान नेता है हमारा
नहीं छोड़ेंगे हम, जमींदारों, महाजनों और बनियों को,
छीन ली जिन्होंने हमारे खेत और जमीन
नहीं छोड़ेंगे हम, अपने खूँटकट्टी अधिकार
सांप और चीतों से भरी
जिस धरती और जंगल को
मुक्त कर साफ किया था हमने
वह सोने-सी धरती, डूबने लगी....
शोषित-पीड़ित है आज भी हमारा देश ।

[अनुवाद : पशुपति जोंको]